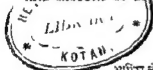
इन्टरमीजियेट के 'शिक्षा' के विद्यार्थियों के लिये निर्धारित पुस्तक

शिक्षा - शास्त्र

[सिद्धांत, विधि, विधान तथा इतिहास]

Theory & Practice of Education

EMBODYING, PRINCIPLES, METHODS, ORGANISATION AND HISTORY OF EDUCATION IN INDIA



भूमिका लेखक

मानतीय श्री सम्पूर्णानन्द जी, सचिव, उत्तर-प्रदेश

ग्रन्थ-लेखक

प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

आचार्या चन्द्रावती लखनपाल,

एम०ए०, बी०टी० (एम०पी०)

'विद्या-विहार', १५ बलबीर रोड, देहरादून

१६५३] (द्वितीय संस्करण) [मूल्य तीन रुपया

प्रकाशिका तथा ग्रन्थ मिलने का पता—
आचार्या चन्द्रावती लखनपाल एम. ए., बी. टी., (एम. पी)
विद्या–विहार,
१५ बलबीर रोड, देहरादून।

मुद्रक—
सुमेध कुमार,
भास्कर प्रेस
देहरादून।

भूमिका

[लेखक—श्री सम्पूर्णानन्द जी, शिक्षा सचिव, उत्तर प्रदेश]

इस पुस्तक मे 'शिक्षा शास्त्र' से सम्बन्ध रखने वाले कई सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक प्रश्नों का विवेचन किया गया है। आज शिक्षा प्रसार बड़े वेग से हो रहा है। सहस्रों व्यक्ति छोटे बड़े विद्यालयों में पढ़ाने का काम कर रहे हैं। ऐसी अवस्था मे स्वभावत शिक्षण के व्यावहारिक अंगों को अधिक प्रधानता मिल जाती है। स्कूल का टाइम टेबुल कैसे बनाया जाय, पाठ्य क्रम क्या हो, किस विषय के पढ़ाने की सबसे सरल और वैज्ञानिक रीति क्या है, कमरे कैसे और कितने बड़े बनाये जायँ, अनुशासन कैसे रक्खा जाय, और रुपया कहाँ से लाया जाय—इन प्रश्नों के निबटारे में सारा समय चला जाता है। न सरकार, और न शिक्षक को दूसरी बातों की ओर ध्यान देने का अवसर मिलता है। इन प्रश्नों को टाला भी नहीं जा सकता क्योंकि यदि इनका कुछ-न कुछ उत्तर न हो, तो विद्यालय चल ही नहीं सकते।

परन्तु सैद्धान्तिक प्रश्नों को भी भुलाया नहीं जा सकता। कभी-न-कभी प्रत्येक विचारशील व्यक्ति के मन में यह प्रश्न उठता होगा-यह सब क्यों? हम परीक्षा तो लेते हैं, पर क्या सचमुच परीक्षा से प्रतिभा का पता चलता है? एक व्यक्ति गणित में दूसरे जीवन

में उत्तीर्ण होता है, और दूसरा फारसी में प्रथम द्वितीयन में, तो क्या इसका यह अर्थ लगाया जा सकता है कि फारसी लेने वाला छात्र अधिक मेधावी है ? यदि परीक्षा से प्रतिभा की परख नहीं होती, तो फिर वह किस चीज की परिचायक है ? हम विभिन्न विषय पढ़ाते तो हैं, पर क्यों ? पढ़ कर क्या होगा ? यदि यह कहा जाय कि ज्ञान बढ़ता है, तो उस ज्ञान से क्या लाभ जिसका परिणाम आये दिन का महायुद्ध, भीषण नरसंहार, निरन्तर अशान्ति हो ? क्या ज्ञान इसीलिए उपार्जित किया जाय कि मनुष्य अपना सामूहिक आत्मघात कर ले, या संस्कृति और सभ्यता का नाम मिटा दे ? यदि पढ़ने का उद्देश्य सफलता से जीवन निर्वाह है, तो सफलता किसे कहते हैं ? दूसरों की मुंह की रोटी छीन कर खा लेना ही सफलता है ? यदि यही बात है, तो इसके लिए विश्वविद्यालय और पाठशाला की क्या आवश्यकता है ? यह काम तो पोथी की अपेक्षा लाठी से अच्छा सध सकता है।

शिक्षक का दायित्व बहुत बड़ा है, परन्तु वह उस दायित्व को तभी पूरा कर सकता है जब अपने काम की तात्विक गहराई तक डूबा जाय। प्रस्तुत पुस्तक में न तो सब सैद्धान्तिक प्रश्नों का उत्थापन किया है, न सब का विवेचन, न सब शंकाओं के निराकरण का प्रयास किया गया है—इससे पुस्तक का कलेवर बहुत बढ़ जाता, परन्तु मुख्य मुख्य प्रश्नों की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है। जो विचारशील हैं उनको इसमें दूसरे विचारकों के मतों का कुछ आभास मिलेगा, और अधिक मनन और अध्ययन के लिए प्रोत्साहन प्राप्त होगा।

शिक्षा की समस्या स्वतंत्र समस्या नहीं है। उसको सुलझाने के पहिले हमको यह निश्चित करना होगा कि मानव जीवन का पुरुषार्थ, परम लक्ष्य क्या है। राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक—हमारे सभी सवाल इससे सम्बद्ध हैं। कोई संगठन, कोई शिक्षा, कोई विधान, कोई व्यवस्था स्वयं साध्य नहीं हो सकती, वह साधन-मात्र हो सकती है। साध्य के स्थिर हो जाने के बाद ही साधन स्थिर हो सकता है। 'शिक्षा के उद्देश्य' पुस्तक का प्रथम अध्याय है। इन उद्देश्यों का समर्थन विख्यात शिक्षा-शास्त्रियों ने किया है, परन्तु शिक्षा के उद्देश्य जीवन के उद्देश्य से भिन्न नहीं हो सकते, अतः पुरुषार्थ का स्वरूप निरूपण करना होगा। भारतीय विद्वानों ने 'मोक्ष' को परम-पुरुषार्थ माना है, और उससे उतर कर 'धर्म' का। 'अर्थ' और 'काम' तो कीट-पतंग के सामने भी अव्यक्त रूप से रहते हैं। यदि यह बात मान ली जाय, तो फिर शिक्षा के सभी उपकरणों को तद्रूप करना होगा। यदि जीवन का लक्ष्य मोक्ष है, और शिक्षा का लक्ष्य व्यक्ति को मोक्ष साधन के योग्य बनाना है, तो फिर यह भी तय करना होगा कि बन्धन क्या है, बद्ध कौन है और कितना है, बन्ध कैसे ढीला किया जाय? यह विषय तो अध्यात्म शास्त्र, वेदान्त का प्रतीत होता है, परन्तु अध्यात्म-शास्त्र तो सभी शास्त्रों का मूल है। हम किसी बाहरी उपाय से लोगों को योगी, ब्रह्मज्ञानी नहीं बना सकते, परन्तु ऐसी व्यवस्था कर सकते हैं जिसमें जीवन संघर्ष—'स्ट्रगल फ़ौर एग्ज़िस्टेन्स'—की जगह सहयोग को दी जाय, और पदे पदे

'परस्परं भावयन्त: श्रेय: परमवाप्स्यथ' के अनुसार काम करना पड़े। यदि बच्चे के अन्तःकरण पर आरम्भ से ही अभेद भावना बैठाने का यत्न किया जाय, तो समाज का स्वरूप बदल जाय। जो वस्तुतः भिन्न हों उनको अभिन्न बनाना शिक्षक की शक्ति के बाहर है, परन्तु अभिन्नों पर से भेद के परदे को हटाने का यन्त किया जा सकता है।

आज शिक्षक दूसरों का सेवक-मात्र है। उससे जो कहा जता है वह पढ़ा देता है, परन्तु यदि वह मनुष्य जीवन के पुरुषार्थ को पहिचाने, और अपने उद्योग को तदनुरूप बनाये, तो फिर वह समाज का निर्माता बन सकता है। मैं आशा करता हूँ कि इस पुस्तक के पढ़ने वाले उन प्रश्नों पर मनन करेंगे जिनकी ओर इसमें संकेत किया गया है।

—सम्पूर्णानन्द

लेखकों के दो शब्द

अब तक भारत की शिक्षा अंग्रेजों के दृष्टि-कोण से चलती रही। अंग्रेजों ने शिक्षा का मुख्य उद्देश्य अपना राज चलाना रखा, भारतीयों को शिक्षित करना नहीं। अब स्थिति बदली है। स्वराज्य प्राप्ति के बाद से शिक्षा के सम्बन्ध में भारतीय दृष्टि कोण जागने लगा है। इस समय यह आवश्यक हो गया है कि शिक्षा के क्षेत्र में जहाँ-जहाँ भी, जो जो भी नवीन परीक्षण हो रहे हैं, उन सब से लाभ उठा कर भारत के भावी नागरिकों का निर्माण किया जाय ताकि इस राष्ट्र की नींव सुदृढ़ बने। इसी दृष्टि से 'शिक्षा-शास्त्र'-ग्रन्थ का निर्माण किया गया है, और शिक्षा के सम्बन्ध में जो भी नये नये सिद्धान्त तथा परीक्षण हो रहे हैं उन सब का इसमें संक्षेप से वर्णन किया गया है।

पिछले दिनों भारत सरकार के शिक्षा विभाग की तरफ से सर राधाकृष्णन की अध्यक्षता में जो 'यूनिवर्सिटी कमीशन' नियुक्त हुआ था उसने अगस्त १६४६ के अन्तिम सप्ताह में अपनी रिपोर्ट भारत सरकार के सम्मुख प्रस्तुत कर दी थी। इस रिपोर्ट में अन्य सुधारों के साथ-साथ परीक्षाओं के सम्बन्ध में उन सुधारों पर विशेष बल दिया गया था जिनका हमने प्रस्तुत पुस्तक में उल्लेख किया है। भारत में परीक्षाएँ नौकरी प्राप्त करने का एक साधन बनी हुई हैं, इसलिये हर-एक व्यक्ति, भलेही वह उच्च शिक्षा न प्राप्त कर सकता हो, रट कर, नकल कर के, चोरी कर के, या सिफारिश करा कर डिग्री प्राप्त करना चाहता है। परीक्षाओं का ढंग भी ऐसा बना हुआ है कि मूर्ख से मूर्ख विद्यार्थी भी भाग्य के सहारे ऊपर चढ़ जाता है, और अच्छे-से-अच्छा भाग्य की ठोकर खाकर लुढ़क जाता है। इसीलिये प्रचलित परीक्षा प्रणाली के स्थान में, जिसमें विद्यार्थियों

से पोथे-के-पोथे लिखाये जाते हैं, 'पदार्थ परीक्षा' (Objective tests) की कमीशन ने सिफारिश की थी। इन प्रश्नों के बनाने में परीक्षक को अवश्य कठिनाई होती है, परन्तु १००-२०० प्रश्नों का उत्तर हाँ ना या निशान लगाकर विद्यार्थी तीन घंटे के स्थान पर आधे घंटे में दे सकता है, परीक्षा फल में भाग्य को कोई स्थान नहीं रहता। हमें प्रसन्नता है कि विद्यार्थियों के विषय में हमने जो कुछ लिखा है, 'यूनिवर्सिटी कमीशन' का भी ध्यान उधर गया।

'यूनिवर्सिटी कमीशन' के सदस्यों का विचार था कि अब समय आ गया है जब कि भारतीय-शिक्षा को भारतीय परिस्थितियों के अनुसार ढालना होगा। हमारे बालक अब तक शेक्सपियर और मिल्टन के विषय में सब-कुछ जानते थे, कालिदास तथा भवभूति के विषय में कुछ नहीं जानते थे। यह अवस्था बदलनी होगी। भारतीय शिक्षा की पृष्ठ भूमि में भारतीयता को लाना होगा, हाँ, उसके साथ-साथ शिक्षा जगत में उठ रहे नवीन विचारों को भी अपनाना होगा। हमने यह समझते हुए कि स्वतन्त्र भारत में शिक्षा के क्षेत्र में अवश्य उथल-पुथल मचेगी, पुराने तथा नये शिक्षा के सिद्धान्तों की टक्कर होगी, वशिष्ठ तथा विश्वामित्र के आश्रमों में क्या होता था, पैस्टेलोज़ी, फ्रिबल तथा मॉन्टीसरी क्या कहते हैं—यह सब जानने की उत्सुकता उत्पन्न होगी—इस ग्रन्थ का निर्माण किया है। हमें आशा है कि यह ग्रन्थ शिक्षा जगत् में, विशेषकर इस समय जब कि हम जो कुछ चाहें उसे लेने और जो कुछ चाहें उसे छोड़ने में स्वतन्त्र हैं, अपना एक विशेष स्थान ।

—सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार
—चन्द्रावती लखनपाल

विषय-सूची

भूमिका—माननीय श्री सम्पूर्णानन्द जी, सचिव, उत्तर प्रदेश द्वारा लिखित

दो शब्द—लेखकों द्वारा

सिद्धान्त (PRINCIPLES)

१. शिक्षा तथा अध्ययन (Education and Instruction)
२. शिक्षा के उद्देश्य (Aims of Education)
३. शिक्षा में समाजवाद तथा व्यक्तिवाद (Socialism and Individualism in Education)
४. आदर्शवाद, प्रकृतिवाद, क्रिया-सिद्धिवाद (Idealism Naturalism and Pragmatism)
५. शिक्षा के साधक-अंग (Factors in Education)

विधि (METHODS)

६. शिक्षा के आधार-भूत सूत्र (Maxims of Methods)
७. आगमन तथा निगमन पद्धति (Inductive and Deductive Method)
८. स्वयं-ज्ञान-पद्धति (Heuristic Method)
९. निरीक्षण तथा सरस्वती-यात्राएं (Observation and Excursions)
१०. वैयक्तिक तथा कक्षा शिक्षण पद्धति (Individual and Class Teaching)
११. सानुबन्ध शिक्षा (Correlation of Studies)
१२. क्रिया द्वारा शिक्षा की पद्धति (Activity Method).
१३. खेल द्वारा शिक्षा की पद्धति (Play-Way in Education)
१४. किंडर गार्टन-पद्धति (Kindergarten Method)

१५. मॉन्टीसरी शिक्षा-पद्धति (Montessori Method) ११३
१६. योजना-पद्धति (Project Method) १२१
१७. डाल्टन-पद्धति (Dalton Plan) १२८
१८. बुनियादी-तालीम या वर्धा योजना (Basic Education and its Method) १३४

विधान (ORGANISATION)

१९. वर्गीकरण (Classification) १४१
२०. परीक्षाएं (Examinations) १५१
२१. अनुशासन (Discipline) १६३
२२. दण्ड तथा पुरस्कार (Punishments and Rewards) १७२
२३. पाठशाला तथा स्वास्थ्य-रक्षा (School Hygiene) १८०
२४. छात्र तथा स्वास्थ्य-रक्षा (Personal Hygiene) १८७
२५. उठने-बैठने का ढङ्ग (Postures) १९४

इतिहास (HISTORY OF EDUCATION)

२६. ब्राह्मण काल में शिक्षा (Education in Ancient India) १९८
२७. बौद्ध-काल में शिक्षा (Education in Budhist India) २२१
२८. तक्षशिला तथा नालन्दा विश्व-विद्यालय (Taxilla and Nalanda). २३५
२९. मध्य-काल में शिक्षा (Education in Medieval India). २४५
३०. ब्रिटिश-काल में शिक्षा (Education in British India) २५७
३१. शिक्षा का वर्तमान संगठन (Present Organisation of Eduation in India) २६५

१

शिक्षा तथा अध्ययन

(EDUCATION AND INSTRUCTION)

शिक्षा मनुष्य का प्रगतिशील तथा सर्वांगपूर्ण विकास है—

'शिक्षा' एक विस्तृत शब्द है। शिक्षा को मनोविज्ञान के साथ जोड़नेवाले स्विट्जरलैंड के प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री[1] पेस्टेलौजी का कथन था कि शिक्षा मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों के प्रगतिशील और सर्वांगपूर्ण विकास का नाम है। जब से बालक उत्पन्न होता है तब से जीवन की अन्तिम घड़ियों तक वह कुछ सीखता ही रहता है। बालक घर में अपने साथ के दूसरे बालकों से सीखता है, माता-पिता से सीखता है, स्कूल में अध्यापकों से सीखता है, पढ़ना-लिखना समाप्त कर चुकने के बाद समाज में जहां रहता है वहां सीखता है। जन्म भर सीखता ही रहता है। इस प्रकार शिक्षा मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों का 'प्रगतिशील विकास' है। जिसके विकास में प्रगति नहीं है, जो जहां का तहां खड़ा है, वह शिक्षा से लाभ लेना छोड़ देता है। प्रगति के साथ शिक्षा का 'सर्वांगपूर्ण' होना भी आवश्यक है। एक व्यक्ति पढ़ने-लिखने में ही दिन-रात रमा रहता है, उसे आटे-दाल के भाव का कुछ पता नहीं होता, दूसरा आटे दाल की ही चर्चा करता है, उसे पढ़ने लिखने की किसी बात का ज्ञान नहीं होता। दोनों की शिक्षा एकांगी शिक्षा है, सर्वांगपूर्ण नहीं है। मनुष्य का कर्तव्य है कि जीवन भर कुछ-न कुछ सीखता रहे, वहीं

अटक न जाय, आगे ही आगे बढ़ता रहे, परन्तु आगे बढ़ने के साथ साथ चारों तरफ भी देखता रहे, अपने को सर्वांगपूर्ण बनाने का प्रयत्न करे।

शिक्षा में मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक पहलू—

इसी दृष्टि से 'शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया' (Process) का नाम है जो जीवन भर चलती रहती है। शिक्षा का प्रारम्भ बचपन से होता है, इसकी समाप्ति मृत्यु में होती है। इस सम्पूर्ण जीवन में मनुष्य का विकास दो बातों पर निर्भर रहता है—उसका अपना 'व्यक्तित्व', और 'समाज'। बालक कैसा है, उसके पहले संस्कार कैसे हैं, उसके अन्दर क्या क्या शक्तियां हैं, क्या क्या भावनाएं हैं? इन शक्तियों और भावनाओं को समझ कर उसके विकास में सहायता देना शिक्षक का काम है। यह बालक के विकास का 'मनोवैज्ञानिक पहलू' (Hereditary or Psychological side) है। इसके अतिरिक्त उसके विकास पर उसकी परिस्थिति का भी बड़ा भारी असर पड़ता है। किन साथियों के सम्पर्क में वह आता है, साथी अच्छे हैं, या बुरे हैं, उसके चारों तरफ का समाज कैसा है? इन परिस्थितियों का बालक के विकास पर कम प्रभाव नहीं पड़ता। बालक के विकास का यह 'सामाजिक पहलू' (Environmental or Sociological side) है।

बालक का मानसिक विकास पढ़ने लिखने से होता है—इसमें सन्देह नहीं और इसीलिए साहित्य, इतिहास, भूगोल आदि विषय पढ़ाये जाते हैं। परन्तु किताबी पढ़ाई के अलावा उसका बहुत कुछ विकास समाज द्वारा होता है। बालक का यह सम्पूर्ण 'मानसिक' तथा 'सामाजिक' विकास जिस प्रक्रिया में से गुज़रता है उसी का 'शिक्षा' (Education) कहते हैं। क्योंकि बालक होने पर भी मानसिक तथा सामाजिक विकास की प्रक्रिया में

से गुजरता रहता है, अगर वह पढ़ा लिखा है तो कुछ न कुछ पुस्तकों से सीखता ही रहता है, और समाज से तो हर-एक कुछ न कुछ सीखता है, इसलिये शिक्षा जीवन भर रहने वाली एक विस्तृत प्रक्रिया है। इसमें घर के, माता पिता के, अपने धन्धे के, शत्रु मित्र के, गृहस्थ के, घूमने फिरने के सभी प्रभाव आ जाते हैं क्योंकि इन सब प्रभावों में से गुजरते गुजरते ही तो मनुष्य नई-नई बातों को सीखता चला जाता है।

'शिक्षा' (Education) तथा 'अध्ययन' (Instruction) में भेद—

इस विस्तृत अर्थ के अलावा 'शिक्षा'-शब्द का एक संकुचित अर्थ भी है। बालक पाठशाला में जाता है। पाठशाला भी समाज का एक छोटा सा रूप है, परन्तु समाज में जो प्रभाव बालक को मार्ग भ्रष्ट कर सकते हैं उन्हें पाठशाला में नहीं आने दिया जाता। पाठशाला का वातावरण शुद्ध रखने का प्रयत्न किया जाता है। समाज में तो जो कुछ है, वह है, अच्छा बुरा प्रभाव बालक पर पड़ता रहता है, उसमें शिक्षक का कोई हाथ नहीं रहता, परन्तु पाठशाला में यह प्रयत्न किया जाता है कि जो कुछ हो अच्छा ही हो, बुरा कुछ न हो, और उस अच्छाई का बालक पर प्रभाव पड़े। इस प्रकार बालक पर, देख भाल कर, समझ बूझकर जो मानसिक तथा सामाजिक प्रभाव डालने का प्रयत्न है वह शिक्षा का संकुचित अर्थ है, और शिक्षा के इसी संकुचित अर्थ के लिये 'अध्ययन' (Instruction) शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। शिक्षा सम्बन्धी ग्रन्थों में 'शिक्षा' शब्द का प्रयोग इन्हीं संकुचित अर्थों में किया जाता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि शुद्ध अर्थों में 'शिक्षा' (Education) बहुत विस्तृत है, जन्म भर होने वाली स्वाभाविक प्रक्रिया है, 'अध्ययन' (Instruction) संकुचित है, लगभग पाठशाला के साथ सीमित कृत्रिम प्रक्रिया है।

२

शिक्षा के उद्देश्य

(AIMS OF EDUCATION)

शिक्षा के उद्देश्य बदलते रहते हैं —

बिना उद्देश्य के मनुष्य किसी काम में उत्साह नहीं दिखाता, उद्देश्य सामने आते ही उसे पूरा करने की शक्ति न जाने उसमें कहाँ से फूट पड़ती है। उद्देश्य के प्रकट होते ही जीवन की सम्पूर्ण क्रिया शक्ति उसे पाने के लिये बेचैन हो उठती है, फिर वह बैठी नहीं रह सकती। तो फिर 'शिक्षा' का उद्देश्य क्या है?

भिन्न भिन्न समयों में शिक्षा के भिन्न भिन्न उद्देश्य रहे हैं। कोई समय था जब भारत में धर्म-शास्त्र की शिक्षा देना गुरु का मुख्य उद्देश्य समझा जाता था। ब्रह्मचारी गुरुओं के आश्रमों में जाकर वेद, उपनिषद् और अन्य धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करते थे। ब्रह्मचारी को धार्मिक ग्रन्थों में दीक्षित कर देना गुरु का एक मात्र लक्ष्य होता था। जिस समय वर्ण-व्यवस्था का प्रचार हुआ तब गुरु का काम चतुर बालकों को वेद पढ़ाकर ब्राह्मण बनाना, शूरवीर बालकों को शस्त्र विद्या सिखाकर सिपाही बनाना, और व्यापार में रुचि रखने वालों को कृषि आदि की शिक्षा देना था। इस समय गुरु का काम बालकों को समाज के भिन्न-भिन्न पेशों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—के लिये, 'कर्म-काण्ड' के लिये तैयार करना था। कुछ समय बाद वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्म से न रह कर जन्म से

मानी जाने लगी, तब ब्राह्मण का पुत्र अपने को ब्राह्मण के पेशे के लिए तय्यार करता था, क्षत्रिय का पुत्र क्षत्रिय के, और वैश्य का पुत्र वैश्य के पेशे के लिये पढ़ाई लिखाई करता था।

भारतीय इतिहास में ब्राह्मण काल के बाद बौद्ध काल आया। उस समय चारों तरफ भिक्षु ही भिक्षु दिखाई देने लगे, और प्रत्येक माता पिता का ध्येय अपने बालक को भिक्षु बना देना हो गया। उस समय भारत में शिक्षा ने भिक्षु संघों के लिये बालकों को तय्यार करना अपना लक्ष्य बना लिया। जब अशोक के समय भारत का राज धर्म ही बौद्ध धर्म हो गया तब भिन्न भिन्न राजकीय पदों के लिये बौद्ध होना आवश्यक समझा जाने लगा, और शिक्षकों ने उन राजकीय पदों के लिये बालकों को बौद्ध धर्म की शिक्षा देकर तय्यार करना अपना लक्ष्य बना लिया।

मुसलमानों के भारत में आने पर भी धार्मिक भावना को जगाना ही शिक्षा का उद्देश्य समझा जाता रहा। मक्तबों का सम्बन्ध मस्जिदों से रहा, और कुरान पढ़ा देना ही मौलवियों का एकमात्र लक्ष्य रहा। वे यही समझते रहे कि कुरान पढ़ लिया तो शिक्षा पूरी हो गई, कुरान न पढ़ा तो कुछ नहीं पढ़ा।

भारत की सामाजिक रचना में, और यहां की राज व्यवस्था में जब तक धर्म की प्रधानता रही तब तक धर्म की शिक्षा देना ही शिक्षा का उद्देश्य बना रहा। अन्य देशों का इतिहास भी यही बतलाता है कि समाज में जिस भाव की प्रबलता होती है, और राज-व्यवस्था को चलाने वाले लोग बालकों में जो भावना भरना चाहते हैं, शिक्षा का वही उद्देश्य हो जाता है। इसका एक अच्छा खासा उदाहरण ग्रीस की शिक्षा प्रणाली है। प्राचीन ग्रीस में स्पार्टा नाम की एक रियासत थी। उस समय हरेक देश अपने को असुरक्षित समझता था। शत्रु किसी भी समय आक्रमण कर सकता था। शत्रु

के आक्रमण से देश की रक्षा करने के लिये स्पार्टा में यह आवश्यक समझा जाता था कि बालक की शारीरिक गठन अच्छी हो, वह साहसी हो, आज्ञाकारी हो ताकि शत्रु का मुकाबला करके 'देश की रक्षा' कर सके। ऐथेन्स के लोग अपने को सुरक्षित समझते थे, इसलिये वे 'संस्कृति' का विकास अपना लक्ष्य समझते थे। स्पार्टा की शिक्षा प्रणाली को उन्होंने अपना लिया था, परन्तु सांस्कृतिक विषयों का अध्ययन भी ऐथेन्स की शिक्षा-प्रणाली में आवश्यक था। उसमें व्यक्ति को अपने स्वतंत्र विकास की भी कुछ थोड़ी-बहुत गुंजाइश थी, स्पार्टा की प्रणाली में ऐसी गुंजाइश बिल्कुल नहीं थी।

इस सारे विवेचन से तीन बातें स्पष्ट हो जाती हैं। पहली यह कि अब तक शिक्षा का उद्देश्य निश्चित करने का काम शिक्षक के हाथ में नहीं रहा है। माता-पिता, समाज, शासक-वर्ग जो कुछ चाहते रहे हैं, शिक्षक वैसा ही करता रहा है। शिक्षा का उद्देश्य निश्चित करना शिक्षक के हाथ में न रह कर दूसरों के हाथ में रहा है। दूसरी बात यह है कि शिक्षा का उद्देश्य सदा बदलता रहा है। वर्ण-व्यवस्था के जन्म से माने जाने से पूर्व शिक्षा का उद्देश्य कुछ और था, बाद को कुछ और हो गया। बौद्ध-काल में भी यह बदलता रहा, और मुसलमानी काल में और बदला। स्पार्टा में शिक्षा का जो उद्देश्य था, ऐथेन्स में वह नहीं था। तीसरी बात यह है कि इस सम्पूर्ण इतिहास में 'व्यक्ति' को अपने विकास की स्वतंत्रता नहीं रही, माता-पिता ने, समाज ने, देश ने, राष्ट्र ने, जैसा व्यक्ति को बनाना चाहा वैसी ही उसे शिक्षा दी जाती रही।

परन्तु अब समय बदल गया है। अब शिक्षक को भी अपने विचार प्रकट करने की छुट्टी मिल गई है। यद्यपि अभी तक शिक्षक निरपेक्ष भाव से शिक्षा का उद्देश्य स्वयं निश्चित नहीं कर सकता अब भी माता पिता, समाज और राष्ट्र ही इसका निश्चय कर रहे हैं,

तो भी जन-स्वातंत्र्य के इस युग में शिक्षक अपनी आवाज ऊँची उठा सकता है। (शिक्षक के लिये सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि बालक की शिक्षा का संचालन उसे एक स्वतंत्र्य व्यक्ति समझ कर 'व्यक्तिवाद' (Individualism) के सिद्धांतों के अनुसार करे, या जैसा अब तक होता चला आया है, समाज की तरफ से जो आदेश हो वैसा, 'समाज वाद' (Socialism) के सिद्धांतों के अनुसार करे।) इस विषय में पर्याप्त मत भेद है अत. इस विषय पर हम आगे चर्चा करेंगे। यहाँ हम शिक्षा के उन उद्देश्यों का वर्णन करेंगे जिनका प्रतिपादन कुछ बड़े बड़े विचारकों ने किया है। ये उद्देश्य निम्नलिखित हैं —

१—शिक्षा का उद्देश्य 'विद्या के लिये विद्या (Knowledge for the sake of knowledge) प्राप्त करना है।

२—बालक को जीवन में किसी 'आजीविका' 'व्यवसाय'— (Vocational aim) के लिये तैयार करना है।

३—शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक—'सर्वांग-विकास'— (Complete living-aim) शिक्षा का उद्देश्य है।

४—सम-विकास (Harmonious development aim) शिक्षा का उद्देश्य है।

५—सच्चरित्र का निर्माण (Moral aim) शिक्षा का उद्देश्य है।

१. विद्या के लिये विद्या—शिक्षा का उद्देश्य है—

प्राय कहा जाता है कि शिक्षा का उद्देश्य विद्या के लिये विद्या का अभ्यास करना है। विद्या का भी अपना कोई उद्देश्य है—इसे वे लोग नहीं मानते; विद्या प्राप्त करना, और प्राप्त की हुई विद्या दूसरों तक पहुंचाना—यह स्वयं अपने-आप में एक उद्देश्य है। विद्या के लिये विद्या को उद्देश्य मानने का यह परिणाम है कि माता पिता, अध्यापक—जो भी विद्या के इस उद्देश्य पर विश्वास

रखते हैं, वे बालक को पुस्तकों से लाद देते हैं, छोटी आयु में ही उसे महा-पण्डित बनाने के लिये व्यग्र हो उठते हैं। ऐसों के लिये ही किसी कवि ने कहा है—'अमी समाचारं च तर्कवादान् समागता कुक्कुटपाद मिश्राः।' प्रायः शिक्षक बच्चों को प्रत्येक विषय में प्रवीण बनाना चाहते हैं, उनकी इच्छा होती है कि ऐसा कोई विषय बच न रहे जो बालक को न आता हो। उसमें उसकी रुचि हो, न हो, वह उसके लिये जीवन में उपयोगी हो, न हो। इसका परिणाम वही होता है जो एकदम बहुत-सा भोजन पेट में भर लेने से होता है। हमारे कथन का यह अभिप्राय नहीं कि विद्या के लिये विद्या का अभ्यास कोई बुरा उद्देश्य है। आज विद्या पेट पालने के लिये पढ़ी जाती है, किसी समय विद्या का केवल मात्र यह उद्देश्य नहीं होता था, परन्तु अन्य सब बातों की तरफ से आँख-मूँद कर केवल विद्या को एक मात्र उद्देश्य समझना मानो मनुष्य को केवल सिर समझ लेना है। शिक्षा का उद्देश्य बहुत-सी बातों का मन में संग्रह कर लेना नहीं अपितु संग्रह की हुई विद्या को जीवन के लिये उपयोगी बनाना है। विद्या स्वयं उद्देश्य नहीं, अपितु किसी उद्देश्य का साधन है, स्वयं लक्ष्य नहीं, अपितु लक्ष्य की तरफ ले जाने वाला मार्ग है।

२. आजीविका के लिये तैयार करना—शिक्षा का उद्देश्य है—

शिक्षा मनुष्य को अलंकृत करने वाला केवल शृंगार नहीं, उसके रोटी के सवाल को भी हल करने का साधन है—यह आवाज आज बड़ी तीव्रता से उठ खड़ी हुई है। चारों तरफ से आवाजें आ रही हैं कि जो शिक्षा बालक को सिर्फ किताबें पढ़ना सिखा देती है, रोटी कमाना नहीं सिखाती, वह बेकार है। जब बालक यह समझ लेता है कि उसको शिक्षा द्वारा किसी व्यवसाय को सीखना है, अपनी आजीविका के प्रश्न को हल करना है, तब

वह निरुद्देश्य नहीं रहता। उद्देश्य ही तो मनुष्य में क्रिया-शीलता उत्पन्न करता है। बालक जब यह समझ कर पढ़ता है कि वह जो कुछ पढ़ रहा है उसे जीवन भर उसका साथ देना है तब वह पढ़ता भी लगन से है। परन्तु क्या यही शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य है ? आजीविका के लिये शिक्षा प्राप्त करने से एक व्यक्ति अच्छा डाक्टर बन सकता है, ऊँचे दर्जे का वकील बन सकता है, इंजीनीयर बन सकता है—परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह अच्छा मनुष्य भी बन जाय। ऐसी अवस्था में सिर्फ आजीविका के लिये तैयारी को शिक्षा का उद्देश्य बना लेना भी शिक्षा के पूर्ण महत्व को न समझना है।

२. 'सर्वांग विकास' शिक्षा का उद्देश्य है—

स्पेंसर ने 'शिक्षा' पर एक ग्रन्थ लिखा है जिसमें उन्होंने कहा है कि शिक्षा का उद्देश्य हमें जीवन के सब पहलुओं के, सब अंगों के विकास के लिये प्रेरित करना है। जीवन में जिस समय जैसी भी परिस्थिति उत्पन्न हो हमें उसके लिये तय्यार करना शिक्षा का काम है। हमें उन सब नियमों का ज्ञान होना चाहिये जिनसे हम शरीर, मन तथा आत्मा का सर्वांगीण विकास कर सकें। घर में हम माता-पिता के साथ कैसे बर्तें, समाज में कैसे उत्तम नागरिक बनें, साथियों के साथ कैसा व्यवहार करें, आजीविका के लिये क्या करें, सामाजिक तथा राजनैतिक समस्याओं का क्या हल निकालें, संक्षेप में, हर बात में हम पूर्ण हों, किसी में अधूरे न रहें —यह स्पेंसर का शिक्षा का उद्देश्य है। जैसे एक सधे हुए व्यक्ति के हाथ में औजार होता है, उसकी मशीन सब तरह से ठीक होती है, तेल दिया होता है, पुर्जा-पुर्जा काम देने के लिये तय्यार होता है, इसी तरह यह शरीर, हमारे काम के लिये तय्यार रहे, मन में भी किसी प्रकार की त्रुटि न हो—यह स्पेंसर का शिक्षा का उद्देश्य है। इसमें

सन्देह नहीं कि यह उद्देश्य बहुत ऊँचा है, परन्तु बालक हर समय तय्यारी ही करता रहे, हर समय सिपाही की तरह लगा ही रहे—यह बालक की प्रकृति से बहुत बड़ी आशा करना है। रूसो का कथन था कि हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि बच्चा तो बच्चा है, वह आदमी नहीं है, उससे आदमियों की-सी आशा रखना व्यर्थ है। स्पेंसर बच्चे से बहुत बड़ी आशा करता था। जो अध्यापक हर समय बच्चे को कुछ न कुछ बनाने में लगा रहता है उसके प्रति बच्चा विद्रोह कर उठता है। बच्चा स्वतंत्रता चाहता है, वह चाहता है कि इसे खुला छोड़ दिया जाय, उसे अपनी इच्छानुसार कदम उठाने दिया जाय। स्पेंसर के सर्वांगीण-विकास के सिद्धान्त में बच्चे के बचपन को भुला दिया गया है।

४. 'सम विकास'—शिक्षा का उद्देश्य है—

कई लोगों का कथन है कि शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य के शारीरिक, मानसिक, नैतिक तथा अन्य सभी पहलुओं का सम-विकास है। हमारे समाज में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं जिनका केवल एक दिशा में विकास हुआ है। शरीर बड़ा गठीला है, परन्तु मन के बच्चे हैं, बहुत पढ़ लिख गये हैं, परन्तु शरीर बच्चों का-सा कमजोर है। शरीर में भी कोई अंग सुदृढ़ है, कोई अंग कमजोर। मन में 'इच्छा'-'ज्ञान'-'कृति' रहते हैं। कइयों की किसी काम को करने की इच्छा होती है, परन्तु इच्छा सदा इच्छा बनी रहती है। वे सदा करूँ-न-करूँ की दुविधा में रहते हैं। कई लोग किसी भी काम को झट-से कर डालते हैं, और करने के बाद सोचते हैं, हमें यह काम करना चाहिये था, या नहीं। स्पेंसर के सर्वांगीण-विकास और सम विकास के इस सिद्धान्त में सिर्फ इतना भेद है कि सर्वांगीण-विकास में तो मनुष्य के सब पहलुओं के विकास की आशा की जाती है, सम-विकास में सब पहलुओं के विकास के साथ-साथ

उन सबके भी एक समान विकास की आशा की जाती है। जब सर्वांगीण विकास ही एक कठिन काम है तब सम-विकास तो उससे भी आगे की बात है, यह और भी कठिन है। एक व्यक्ति विज्ञान का पंडित हो, दर्शन-शास्त्र का ज्ञाता हो, शरीर से पहलवान् हो, सब तरह से पूर्ण हो—यह बहुत अच्छा उद्देश्य है, जहां तक यह पूरा हो सके इसे करना ही चाहिए, परन्तु यह उद्देश्य क्रियात्मक नहीं है, इस प्रकार के पूर्ण विकास की आशा करना दुराशा मात्र है।

५. 'चरित्र निर्माण'—शिक्षा का उद्देश्य है—

कई लोगों का कथन है कि शिक्षा का उद्देश्य बालक के शरीर को सुदृढ़ बना देना या मन को ज्ञान से भर देना नहीं है, इसका मुख्य उद्देश्य बालक को सदाचारी बनाना है, उसके चरित्र को शुद्ध तथा पवित्र बनाना है। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य नैतिक है, सदाचार तथा सद् व्यवहार का निर्माण है, अन्य उद्देश्य इसके पीछे चलने वाले हैं।

'वंश-परम्परा' तथा 'परिस्थिति'—दोनों में से बालक पर किस का अधिक प्रभाव है, इस विवाद में प्रायः कहा जाता है कि पैतृक संस्कारों को मिटा सकना एक असंभव कार्य है। इस विचार से शिक्षक प्रायः निराश हो जाते हैं और समझते हैं कि वे बालक पर कुछ नहीं बना सकते, उसे जो कुछ बनाना है यह तो बीज-रूप में बना बनाया है, शिक्षा उसका कुछ नहीं बना सकती। हर्बार्ट (Herbart) का कथन था कि यह बात नहीं है, शिक्षा वह साधन है जिसके द्वारा बालक की उस मूल प्रकृति को बदला जा सकता है जिसे शिक्षक पैतृक समझ कर यह समझ लेता है कि इसे तो बदला ही नहीं जा सकता। असल में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य ही बालक की प्रकृति को बदलना है। बालक तो पशु की तरह अपनी भिन्न-भिन्न प्राकृतिक-शक्तियों (Instincts)

को लेकर पैदा होता है, शिक्षक उसे पशु से मनुष्य बनाता है, उसमें नैतिकता की भावना को भरता है।

'चरित्र' एक व्यापक शब्द है। प्लेटो का कथन था कि मनुष्य 'ज्ञान' (Knowing), 'इच्छा' (Feeling) तथा 'कृति' (Willing) का समूह है। 'ज्ञान' की पराकाष्ठा 'सत्यम्' (Truth) में है; 'इच्छा' की पराकाष्ठा 'सौन्दर्य' (Beauty) में है, 'कृति' की पराकाष्ठा 'शिवम्' (Goodness) में है; इसी को 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' (Truth, Goodness, Beauty) कहा जाता है। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का चरित्र ऐसा बना देना है जिससे वह अपने जीवन को 'सत्य शिव सुन्दरम्' बना सके। बालक में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह की भावना को उत्पन्न करना, कठिनाइयों का मुकाबिला करने की भावना को जागृत कर देना भारत की प्राचीन शिक्षा का उद्देश्य समझा जाता रहा है। गुरुकुल में ब्रह्मचर्य पूर्वक, गुरु की आज्ञा का पालन करते हुए तपस्या का जीवन व्यतीत करना चरित्र-निर्माण का ही एक रूप है। शिक्षक अगर बालक के चरित्र का निर्माण कर देता है, अगर बालक में सत्य के प्रति प्रेम, अच्छाई को पाने की लगन, ईमानदारी, न्याय प्रियता आदि गुण आ जाते हैं, तो शिक्षा ने अपने उद्देश्य को पूरा कर लिया—ऐसा समझना चाहिए।

६ शिक्षा का उद्देश्य इन सब का समन्वय है—

हमने शिक्षा के भिन्न भिन्न उद्देश्यों का वर्णन किया। शिक्षा का उद्देश्य भिन्न भिन्न समयों में भिन्न भिन्न रहा है। समाज या राष्ट्र में जो समस्या प्रबल होती गई है, उसी के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य भी बदलता गया है। अगर राष्ट्र के सम्मुख अपनी रक्षा का प्रश्न मुख्य रहा है तो चरित्र उत्पन्न करना शिक्षा का उद्देश्य हो गया है, अगर कोई राष्ट्र भूखा मरने लगा है तो व्यापार आदि की

शिक्षा को मुख्यता प्राप्त हो गई है। जो राष्ट्र सब तरह से निश्चिन्त है, जिसके सामने कोई विशेष समस्या नहीं है, वह व्यक्ति को स्वतन्त्र विकास करने की आज्ञा देता है, अन्यथा वह अपनी समस्या को हल करने के लिए शिक्षक की आवाज को दबाकर शिक्षक को अपने स्वर में स्वर मिलाने को बाधित करता है। फिर भी संसार के शिक्षकों तथा विचारकों ने शिक्षा के अनेक उद्देश्य निश्चित किये हैं। कोई विद्या के लिए विद्या प्राप्त करने को शिक्षा का उद्देश्य कहता है, तो कोई आजीविका के लिए तैयारी को। कोई सर्व गुण-सम्पन्न निर्दोष मानव को उत्पन्न करना शिक्षा का उद्देश्य बतलाता है, तो कोई चरित्र निर्माण को। शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य तभी पूर्ण हो सकता है जब इन सब उद्देश्यों का समन्वय किया जाय। समाज तथा राष्ट्र की बात सुनी जाय, परन्तु साथ ही शिक्षक की आवाज को भी अनसुना न किया जाय, भिन्न भिन्न विद्याओं के प्रति बालक में रुचि उत्पन्न की जाय, परन्तु साथ ही कोई व्यवसाय भी सिखाया जाय, बालक को सर्व गुण सम्पन्न बनाने का प्रयत्न किया जाय, परन्तु साथ ही उसे स्वतन्त्र भी विकसित होने दिया जाय, और इन सब के साथ उसके चरित्र का उसके व्यक्तित्व के सुदृढ़ आधार पर निर्माण किया जाय।

३

शिक्षा में समाज-वाद तथा व्यक्तिवाद

(SOCIALISM AND INDIVIDUALISM)

हम पिछले अध्याय में कह चुके हैं कि अब तक शिक्षा का संचालन माता पिता, समाज तथा राष्ट्र की इच्छानुसार होता रहा है। राष्ट्र बालक को जो कुछ बनाना चाहता है शिक्षक उसे वही बनाने में जुट जाता है। स्पार्टा के बालकों को तपस्वी बनाया जाता था। माताएँ बालकों के पैदा होते ही उनके बल की परीक्षा करती थीं। यह आजमाती थीं कि वह स्वस्थ और बलवान रहेगा, या कमजोर रहेगा। बच्चे को एक शिला पर पटका जाता था, जो बच रहता था, वह पाल-पोस लिया जाता था, जो मर जाता था, वह फेंक दिया जाता था। स्पार्टा की शिक्षा-पद्धति ने यह प्रश्न खड़ा कर दिया कि शिक्षा में 'व्यक्ति' प्रधान होना चाहिये, या 'समाज'। क्या शिक्षा देते हुए हमें बालक को समाज रूपी मशीन का एक पुर्जा समझकर चलना चाहिये, या बालक को व्यक्ति रूप से एक स्वतन्त्र सत्ता समझ कर चलना चाहिये? बालक समाज के विकास के लिए है, या समाज बालक के वैयक्तिक विकास के लिये है? इसी समस्या को शिक्षा में 'समाज-वाद' (Socialism) तथा 'व्यक्तिवाद' (Individualism) की समस्या कहा जाता है।

अब तक शिक्षा में समाज-वाद की ही प्रधानता रही है। बालक मानव समाज का एक अंग है। व्यक्ति की समाज से स्वतन्त्र सत्ता ही क्या है? समाज से स्वतत्र किसी व्यक्ति की कल्पना करना एक मिथ्या कल्पना है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह समाज में रहता है, समाज में पलता है, समाज में बढ़ता है, जन्म से मरण पर्यन्त समाज का ऋणी है, इसलिये समाज की इच्छा के अनुसार उसका निर्माण करना आवश्यक है। जान में, अनजान में, मनुष्य के स्वतत्र व्यक्तित्व को पीछे हटा कर, समाज तथा राष्ट्र की माँग के अनुसार उसे ढालना शिक्षक का कर्तव्य है।

जो लोग व्यक्ति तथा समाज की तुलना में, समाज की मुख्यता के पक्षपाती थे, वे इतने बढ़ गये कि व्यक्ति की तरह समाज को भी एक स्वतंत्र सत्ता कहने लगे। उन्होंने कहना शुरू किया कि राष्ट्र की भी, व्यक्ति की तरह, मानो आत्मा है, और वह 'राष्ट्र', व्यक्ति की अपेक्षा एक उच्चतर सत्ता है। राष्ट्र के लिये ही व्यक्ति है, व्यक्ति के लिये राष्ट्र नहीं है। राष्ट्र को सबल तथा सुदृढ़ बनाने के लिये व्यक्ति को अपनी सत्ता मिटा देनी चाहिये। राष्ट्र के दृष्टि-कोण से ही प्रत्येक बात होनी चाहिये, शिक्षा में भी राष्ट्र का ही नियामक हाथ होना चाहिये, राष्ट्र को पूरा अधिकार होना चाहिये कि वह व्यक्ति को जिस प्रकार बनाना चाहे, बनाये। प्राचीन काल में स्पार्टा की शिक्षा इसी सिद्धान्त पर चल रही थी, वर्तमान युग में जर्मनी तथा जापान ने भी इसी सिद्धान्त को मुख्य रख कर अपने यहाँ शिक्षा का संचालन किया था। इस सिद्धान्त ने व्यक्ति की स्वतंत्रता का इतना दमन कर दिया कि व्यक्ति अपने आप कुछ भी करने योग्य नहीं रह गया, वह राष्ट्र की मशीन का एक पुर्जा हो गया, राष्ट्र के कर्णधारों की गति की आलोचना करना भी पाप हो गया, और परिणाम-स्वरूप जर्मनी का सारा मानव-समाज हिटलर

का, और इटली का समाज मुसोलिनी का दास हो गया, अपनी स्वतंत्र आवाज़ उठाना किसी के लिये भी असंभव हो गया।

शिक्षा में 'समाज वाद' अमरीका, इंग्लैंड तथा अन्य प्रजातन्त्र देशों में भी पाया जाता है, परन्तु इन देशों में शिक्षा में 'समाज वाद' का अभिप्राय सिर्फ इतना है कि व्यक्ति को समाज की सेवा के योग्य बनाया जाय, और शिक्षा में ऐसे विषयों का प्रवेश किया जाय जिनसे अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व रखते हुए भी अपनी अपनी योग्यता के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति समाज की सेवा कर सके। वह उत्तम नागरिक हो, समाज का भला करने की सोचा करे, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह अपने व्यक्तित्व को ही मिटा दे। नाज़िज़्म तथा फैसिज़्म में तो व्यक्ति को अपनी सत्ता को समाप्त ही कर देना होता है, तानाशाही राज्य में डिक्टेटर ही सब कुछ है, प्रजातन्त्र में व्यक्ति समाज की सेवा करता हुआ भी अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व को नहीं खोता।

स्पार्टा, जर्मनी, इटली तथा जापान में जिस प्रकार का उग्र 'राष्ट्र समाज वाद' (State Socialism) चला उसमें व्यक्ति की नगण्य सत्ता हो गई, व्यक्ति का माना मिटा सा दिया गया, उनमें व्यक्ति के स्वतन्त्र विकास का कोई स्थान ही नहीं रहा। इंग्लैंड, अमरीका आदि प्रजातन्त्र देशों में भी व्यक्ति को उत्तम नागरिक बनाने का अगर सङ्कुचित अर्थ लिया जाय तो उसका भी इसके अतिरिक्त कोई अभिप्राय नहीं रहता कि व्यक्ति राष्ट्र के हाथों में एक औज़ार का काम करे, राष्ट्र उसका जैसा उपयोग करना चाहे करे। राष्ट्र धर्म को इस प्रकार मुख्य बना लेने का परिणाम यह होता है कि मनुष्य को अपने देश के राजनैतिक नेताओं की हरेक बात में हाँ में हाँ मिलाना ही पड़ता है—भले ही वे ठीक कहें, या ग़लत कहें।

शिक्षा में समाज की तानाशाही के विरुद्ध १८वीं शताब्दी में रूसो ने आवाज उठायी। उसने कहा कि समाज ने बालक के विकास को चारों तरफ से कैद कर रखा है। हमें बालक को समाज की कैद से छुड़ाना है। बालक में स्वतन्त्र शक्तियाँ हैं—शिक्षक का काम उसे ऐसी प्राकृतिक परिस्थितियों में रख देना है जिससे उस के 'व्यक्तित्व' का विकास हो सके। शिक्षा में व्यक्ति तथा समाज के मुकाबिले में व्यक्ति ही मुख्य है, उत्तम व्यक्ति ही उत्तम नागरिक बन सकता है। शिक्षा में व्यक्ति वाद (Individualism) के समर्थकों का कथन है कि परिवार, पाठशाला तथा राष्ट्र व्यक्ति के विकास के साधन हैं, व्यक्ति इनके लिये नहीं, ये व्यक्ति के लिये है। पाठशाला व्यक्ति के विकास के लिये ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देती है जिससे वह अपने को उन्नत बना सके। राष्ट्र का काम व्यक्ति पर शिक्षा का बोझ लाद देना नहीं है, अपितु बालक को चारों तरफ से ऐसी परिस्थितियों से घेर देना है जिन से प्रोत्साहित होकर वह अपने अन्दर छिपी हुई भिन्न भिन्न शक्तियों को प्रकाश में ला सके। आज जितनी नवीन शिक्षा-प्रणालियाँ काम में लायी जा रही हैं सबका लक्ष्य बालक के 'व्यक्तित्व' (Individuality) को जगाना है, उसमें जो स्वाभाविक शक्तियाँ हैं उन्हें विकसित होने के लिये प्रोत्साहित करना है। 'ह्यूरिस्टिक पद्धति'-'प्रोजेक्ट पद्धति' 'डाल्टन प्लैन'—ये सब प्रणालियाँ व्यक्ति को प्रधान मान कर ही चलाई गई हैं, और इन सबका आधार शिक्षा में व्यक्ति वाद (Individualism) का सिद्धान्त है।

संसार में जो कुछ हुआ है व्यक्तियों द्वारा हुआ है। महात्मा गान्धी जैसे एक व्यक्ति ने अपने जीवन काल में ही भारत को कहाँ से कहाँ पहुँचा दिया। व्यक्ति का महत्व समझने के लिये संसार के इतिहास के पन्नों को पलट लेना काफी है। जहाँ सारा

समाज टक्कर मार कर रह जाता है वहाँ एक व्यक्ति उठ खड़ा होता है, और ऐसा झटका देता है कि समाज में अब तक जो शिथिलता दिखाई देती थी वह शक्ति तथा उत्साह में परिणत हो जाती है।

'व्यक्तित्व' के विकास का क्या अभिप्राय है? क्या इसका यह अभिप्राय है कि व्यक्ति जैसी उच्छृङ्खलता चाहे करे? अगर व्यक्ति के विकास का यह अभिप्राय हो तब तो व्यक्ति से समाज को खतरा पैदा हो जाय। व्यक्तित्व के विकास का अभिप्राय उच्छृङ्खलता से नहीं, स्वतन्त्रता से है। उच्छृङ्खल व्यक्ति तो समाज के बंधनों को छिन्न भिन्न कर समाज की व्यवस्था में ही गड़बड़ी डाल देगा, स्वतन्त्र व्यक्ति समाज की व्यवस्था को बिगाड़ने के स्थान में सुधारने का प्रयत्न करेगा। शुद्ध अर्थों में व्यक्ति का विकास सामाजिक विकास में सहायक होगा, उस में बाधा डालने वाला नहीं।

'समाज' तथा 'व्यक्ति' में जो संघर्ष चल रहा है इसे अगर हम मिटाना चाहें तो यह समझ लेना आवश्यक है कि न तो समाज का उद्देश्य व्यक्तित्व को मिटा देना है, न व्यक्ति का उद्देश्य समाज के प्रतिकूल चलना ही है। समाज का काम व्यक्ति के व्यक्तित्व को बनाये रखने में सहायता देना है, और व्यक्ति का काम अपने गुणों से समाज को लाभ पहुँचाना है। व्यक्ति का समाज के बिना कोई मूल्य नहीं, और समाज व्यक्तियों के बिना निरर्थक है। दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं, एक दूसरे के सहायक हैं, अतः दोनों के गठ-बन्धन से ही शिक्षा की गाड़ी चल सकती है।

का कहना था कि भारत में शासन करने के लिये उन्हें क्लर्कों की आवश्यकता है; उन्होंने अंग्रेजी में प्रवीण होना शिक्षा का एक-मात्र लक्ष्य बना दिया; रूसो ने समाज के बन्धनों के प्रति विद्रोह की विचार धारा को जन्म दिया था, उसने बालक को स्वतन्त्रता-पूर्वक विकसित होने देना शिक्षा का लक्ष्य बतलाया; इंगलैंड अमेरीका में प्रजातन्त्र की भावना प्रबल हो उठी, वहाँ उत्तम नागरिक बनाना शिक्षा का लक्ष्य बन गया, जर्मनी में जर्मन जाति के विश्व विजयिनी होने की भावना को जन्म दिया गया, वहाँ राष्ट्र-धर्म की प्रधानता हो गई, व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता को मिटा दिया गया। कहने का अभिप्राय यह है कि देश की जैसी आवश्यकताएं होती हैं वैसी विचार-धारा और दर्शन-शास्त्र उत्पन्न हो जाते हैं, और जैसा दर्शन-शास्त्र होता है उसी के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य और शिक्षा की पद्धति का क्रम चल पड़ता है। हम 'दर्शन शास्त्र' के उन मुख्य-मुख्य 'वादों' का यहाँ वर्णन करेंगे जिनका 'शिक्षा' के 'उद्देश्य', 'विधि' तथा 'विधान' के निर्णय करने पर प्रभाव पड़ रहा है।

२. आदर्श-वाद (IDEALISM)

प्रारम्भ से 'आदर्श-वाद' (Idealism) ही जीवन का मुख्य सिद्धान्त माना जाता रहा, और इसलिये इसी का शिक्षा पर प्रभाव रहा। 'आदर्श वाद' (Idealism) 'दर्शन शास्त्र' (Philosophy) के भिन्न-भिन्न वादों में से एक 'वाद' है। इसका मुख्य प्रवर्तक प्लेटो था। इस 'वाद' के मुख्य आधार-भूत तत्व निम्न हैं :—

आदर्श-वाद के आधार-भूत तत्व—

(१) भौतिक-जगत की अपेक्षा आध्यात्मिक जगत्-का

महत्त्व अधिक है। संसार में मनुष्य अपने को दो भागों में बाँट लेता है—यह 'स्वयं', तथा बाह्य 'जगत्'। बाह्य जगत् पंच महाभूतों का बना हुआ है—पृथिवी, अप, तेज, वायु, आकाश। विज्ञान इन महाभूतों की ही चर्चा करता है, परन्तु इनके अतिरिक्त 'मैं' भी तो कुछ है। इस 'मैं' का निरीक्षण करें तो ज्ञात होता है कि इसमें 'मन' तथा 'आत्मा'—ये दो सत्ताएं हैं। बाह्य-जगत् तो मेरे लिए है, अतः 'मन' तथा 'आत्मा' का जानना भौतिक पदार्थों के जानने की अपेक्षा अधिक बड़ा आदर्श है। मन तथा आत्मा का जगत् ही आदर्श-जगत् है। इस प्रकार 'आदर्श वाद' (Idealism) भौतिक जगत् पर बल न देकर 'मन' तथा 'आत्मा' पर अधिक बल देता है और कहता है कि संसार में अन्तिम सत्ता भौतिक नहीं, आध्यात्मिक है, पृथिवी-अप तेज वायु आकाश नहीं, मन आत्मा-परमात्मा है। बाह्य जगत् तो आध्यात्मिक सत्ता का एक अत्यन्त तुच्छ प्रकाश है, वास्तविक सत्ता आध्यात्मिक सत्ता ही है। यह 'आदर्श वाद' (Idealism) का पहला तत्व है।

(२) अगर 'भौतिक' सत्ता की अपेक्षा 'आध्यात्मिक' सत्ता अधिक वास्तविक है तब 'आध्यात्मिक' सत्ता का जानना ही मनुष्य का मुख्य प्रश्न हो जाता है। आध्यात्मिक सत्ता अपने को कैसे विकसित करती है? मन तथा आत्मा के अध्ययन से ज्ञात होता है कि हमारे भीतर तीन प्रकार की प्रक्रियाएं चल रही हैं। हम सोचते हैं, हम इच्छा करते हैं, हम क्रिया करते हैं—'ज्ञान'-'इच्छा'-'कृति'—ये तीन, मानसिक प्रक्रिया के तीन पहलू हैं। 'ज्ञान' का लक्ष्य क्या है? 'ज्ञान' बढ़ते बढ़ते 'सत्य' को पाना चाहता है। 'इच्छा' का लक्ष्य क्या है? 'इच्छा' की चरम सीमा 'सौन्दर्य' को पाने के लिए होती है। 'कृति' का लक्ष्य क्या है? कर्म करते करते मनुष्य उत्तम से-उत्तम काम करना चाहता है। आध्यात्मिक

सत्ता के इसी विकास को संतों ने 'सत्य'-'सुन्दर'-'शिव' (Truth, Beauty, Goodness) का नाम दिया है। मानव-जीवन का लक्ष्य 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का पाना है, इन तीनों को जीवन में घटा लेना है। 'आदर्श-वाद' (Idealism) का यह दूसरा तत्व है।

(३) 'आदर्श-वाद' (Idealism) का कथन है कि मनुष्य का लक्ष्य 'सत्य' 'शिव'-'सुन्दर' को पाना तो है ही, परन्तु इसके साथ साथ आध्यात्मिक माप-दण्ड को भी बढ़ाते जाना है। जैसे प्रकृति पर विजय पाने वाले नवीन-नवीन आविष्कार करते हैं, आगे ही-आगे बढ़ते जाते हैं, वैसे आध्यात्मिक सचाइयों की अनुभूति भी मनुष्य को आगे-ही आगे ले जाती है। 'सत्य'-'सुन्दर'-'शिव' का मार्ग मनुष्य को सापेक्ष-सत्य (Relative truth) से निरपेक्ष सत्य (Absolute truth) की तरफ, सापेक्ष सौंदर्य (Relative beauty) से निरपेक्ष-सौन्दर्य (Absolute beauty) की तरफ, सापेक्ष शिव (Relative goodness) से निरपेक्ष शिव (Absolute goodness) की तरफ ले जाता है। निरपेक्ष (Absoluteness) की तरफ जाना ही 'आदर्श' की तरफ जाना है, यही मनुष्य का चरम लक्ष्य है। यह 'आदर्श-वाद' (Idealism) का तीसरा तत्व है।

(४) जिस आध्यात्मिक स्तर को मनुष्य-समाज ने पा लिया उसे आगामी सन्तति द्वारा सुरक्षित रखना भी हमारे लिये आवश्यक हो जाता है, नहीं तो हरेक सन्तति को नये सिरे से इन बातों का पता लगाना आवश्यक हो जायगा। हमारा यह कर्तव्य है कि 'आदर्श-वाद' के जिस स्तर पर हम पहुँच चुके हैं, उस तक अपनी सन्तति को भी पहुँचा दें, ताकि वह अपने से आगामी सन्तति को हमसे भी आगे पहुँचा सके, और इस प्रकार उन्नति करता हुआ

मानव समाज निरपेक्ष सत्य, निरपेक्ष शिव तथा निरपेक्ष सुन्दर को पा सके। यह 'आदर्श वाद' का चौथा तत्व है।

आदर्श वाद का शिक्षा पर प्रभाव—

'आदर्श वाद' (Idealism) की जिन चार बातों का हमने उल्लेख किया है इनका 'शिक्षा' पर बड़ा प्रभाव पड़ा। 'शिक्षा' का उद्देश्य 'भौतिक' उतना नहीं जितना 'आध्यात्मिक' है—यह आदर्श वादियों का कथन है। 'मन' 'आत्मा' आदि के अध्ययन पर इन्हों ने बहुत जोर दिया। 'सत्य' 'शिव' 'सुन्दर' का ज्ञान क्रमश 'दर्शन शास्त्र' (Philosophy), 'नीति शास्त्र' (Ethics) तथा 'ललित कलाओं' (Arts) से किया जाने लगा। शिक्षा संस्था का उद्देश्य बालकों को वह सब ज्ञान दे डालना समझा गया जो अब तक मानव जाति ने प्राप्त किया था। हरेक बालक के लिये सब विषयों का ज्ञान आवश्यक माना गया। यह समझा गया कि जाति के सदियों में संचित किये हुए ज्ञान की धरोहर को सुरक्षित रखने तथा उसे आगे बढ़ाने के लिये बालक उत्पन्न हुआ है। क्योंकि जाति का सम्पूर्ण ज्ञान लैटिन, ग्रीक, संस्कृत, पर्शियन या अरबी में सुरक्षित है अत इन भाषाओं का ज्ञान उसके लिये आवश्यक हो गया। इस प्रकार इन प्राचीन भाषाओं के ज्ञान को 'मनुष्योपयोगी शिक्षा' (Humanistic Studies) का नाम दिया गया और इनका पढ़ना प्रत्येक बालक के लिये अनिवार्य हो गया। क्योंकि बालक को इतनी अगाध विद्या थोड़े से ही समय म देनी होती थी अत यह समझा गया कि उस पर सुदृढ़ नियन्त्रण रखने की आवश्यकता है। खेल कूद म समय बिताना व्यर्थ है। दिन रात पढ़ना, रटना, किताबों का कीड़ा बने रहना बालक का लक्ष्य बन गया, और उदा लेकर शिष्य का दिमाग सब कुछ पढ़ डालने के लिए

बाधित करना गुरु का लक्ष्य बन गया। 'आदर्श-वाद' (Idealism) का शुरु-शुरु में यह लक्ष्य नहीं था, जो कुछ वह आदर्श समझता था उसकी तरफ जाना उसका लक्ष्य था, परन्तु क्योंकि हरेक वाद कुछ समय बाद पतन की तरफ चल पड़ता है, 'आदर्श वाद' भी पतन के मार्ग पर चल दिया।

३. प्रकृति-वाद (NATURALISM)

प्रकृति-वाद आदर्श-वाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया था—

'आदर्श-वाद' (Idealism) के अन्ध-भक्त जब ग्रीक, लैटिन तथा संस्कृत के ज्ञान को ही ज्ञान की चरम-सीमा समझने लगे, जब 'ह्यूमनिस्टिक-स्टडीज़' (Humanistic studies) ही शिक्षा का चरम लक्ष्य हो गयीं, तब इस की प्रतिक्रिया भी उत्पन्न हुई। इस प्रतिक्रिया का नाम 'प्रकृति वाद' (Naturalism) था। 'प्रकृति वाद' (Naturalism) के अवान्तर्गत कई 'वाद' उत्पन्न हुए परन्तु उन सबको मुख्य तौर पर 'यथार्थवाद' (Realism) कहा जाता है। क्योंकि 'आदर्श-वाद' की प्रतिक्रिया के रूप में ये 'वाद' उत्पन्न हुए थे इसलिए इन 'वादों' का नाम 'यथार्थ-वाद' रक्खा गया—'आदर्श' का उल्टा 'यथार्थ'। 'प्रकृति-वाद' (Naturalism) तथा 'यथार्थ वाद' (Realism) का लगभग एक ही अर्थ है। 'यथार्थ-वाद' (Realism) के मुख्य में तीन भेद माने जाते हैं। 'ह्यूमेनिस्टिक यथार्थवाद' (Humanistic realism), 'सामाजिक-यथार्थ वाद' (Social realism) तथा 'इन्द्रिय-यथार्थवाद' (Sense realism)। इन तीनों का वर्णन 'शिक्षा-मनोविज्ञान' (चन्द्रावती लखनपाल-कृत) के प्रथम अध्याय के प्रारम्भ में ही कर दिया गया है। 'प्रकृति-वाद' (Naturalism) का शुद्ध रूप 'इन्द्रिय-यथार्थ-वाद'

(Sense realism) है। 'प्रकृति वाद' का 'शिक्षा' पर निम्न प्रभाव पड़ा —

प्रकृति-वाद या इन्द्रिय यथार्थवाद (Naturalism or Sense Realism) का शिक्षा पर प्रभाव—

(१) अब तक शिक्षा में पुस्तकों को बहुत अधिक महत्व दिया जाता था। पाठशाला का आधे से अधिक समय ग्रीक, लैटिन, संस्कृत, अरबी, फारसी पढ़ाने में नष्ट कर दिया जाता था। व्याकरण तथा कोश जैसी पुस्तकें रट लेना विद्यार्थी के जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य था। पुस्तकों का पांडित्य दिखा सकने में शिक्षा का महत्व समझा जाता था। 'प्रकृति वाद' या 'इन्द्रिय यथार्थवाद' (Naturalism or Sense realism) ने इस प्रवाह को रोक दिया।

(२) शुरू-शुरू में बेकन तथा कोमिनियस ने कहा कि शिक्षा का काम पुस्तकें पढ़ा देना नहीं, अपितु प्रकृति के अनुसार बालक को चलाना है। इसी आवाज़ को रूसो ने और जोर से उठाया। उसने कहा कि बालक को अपने स्वभाव के अनुसार स्वयं विकसित होने दो—समाज से परे, चालू स्कूलों के वातावरण से दूर, शिक्षक की चौरी से हट कर, प्राकृतिक वातावरण में बालक का उचित विकास हो सकता है। हम बालक को पुस्तकों से, अध्यापकों से, और न जाने किस किस चीज से ऐसे घेर देते हैं मानो वह कैदी हो। हमें शिक्षा देने की इतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी जिस प्रकार की शिक्षा हम दे रहे हैं उसे हटा लेने की।

(३) बालक के ऊपर पोथियां लाद देना, यह समझना है कि वह 'बालक' नहीं, 'मनुष्य' है। हम यह भूल जाते हैं कि बालक बालक है। रूसो ने बालक को अपना खोया हुआ स्थान दिया। उसने इस बात पर जोर दिया कि बालक भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में से गुज़रता है। पहले शैशवावस्था आती है, फिर बचपन,

बाल्यावस्था, किशोरावस्था और फिर परिपक्वावस्था आती है। रूसो ने एक कल्पित बालक का एमिली (Emile) नाम रखकर उसके जीवन को शिशु-काल, बचपन, बाल्य-काल, किशोरावस्था तथा परिपक्वावस्था—इन पाँच भागों में बाँटकर उसकी शिक्षा किस प्रकार होनी चाहिये इसका वर्णन किया। हर अवस्था में बालक में भिन्नता आती है। रूसो के इसी वर्णन से बालक की 'प्राकृतिक-शक्तियों' (Instincts), 'स्थायीभावों' (Sentiments) तथा 'बुद्धि' (Intelligence) आदि का अध्ययन होना प्रारम्भ हुआ। रूसो के दर्शाए मार्ग पर चल कर ही बालक को एक स्वतंत्र 'व्यक्ति' (Individual) समझा जाने लगा और शिक्षा में 'व्यक्ति-वाद' (Individualism) का सूत्र-पात हुआ। 'शिक्षा-मनोविज्ञान' का भी इसी समय से बीज पड़ा समझना चाहिये।

(४) 'प्रकृति-वाद' (Naturalism) ने इस बात पर भी ज़ोर दिया कि शिक्षा में 'विज्ञान' पर बल देना चाहिये। शिक्षा की पद्धति के विषय में 'प्रकृति-वाद' ने कहा कि बालक को पुस्तकों से घेरने के स्थान में ऐसी प्राकृतिक परिस्थितियों से घेर देना चाहिये जिससे वह स्वयं ज्ञान प्राप्त कर सके। इसी को 'ह्यूरिस्टिक मैथड' (Heuristic Method) कहा जाता है। बालक जो सीखे स्वयं सीखे, परीक्षण करता जाय और सीखता जाय, करे और सीखे (Learning by doing)—इन सब सिद्धान्तों को 'प्रकृति वाद' (Naturalism) ने प्रोत्साहित किया। अब तो बालक को शिक्षा का केन्द्र बना दिया गया है, और इसी का परिणाम है कि शिक्षक या पाठविधि मुख्य होने के स्थान पर शिक्षा में बालक ही मुख्य समझा जाने लगा है। इसी भावना के प्रबल हो जाने से 'डाल्टन प्लैन'—'प्रोजेक्ट-पद्धति'—'मॉन्टीसरी-पद्धति' आदि का निर्माण हुआ है। 'मनोविश्लेषण-वाद' (Psycho-

analysis) में बच्चों के दोषों तथा अपराधों की तरफ भी 'प्रकृति वाद' की लहर ने ही शिक्षकों का ध्यान आकर्षित किया है।

४. क्रिया-सिद्धि-वाद (PRAGMATISM)

अमरीका में जान ड्यूई (१८५९) ने 'क्रिया सिद्धिवाद' (Pragmatism) की स्थापना की। इसके आधार भूत तत्त्व निम्न हैं—
क्रिया सिद्धि-वाद के आधार भूत तत्त्व—

(१) किसी भी सिद्धान्त को परखने की कसौटी यह है कि उससे क्रिया सिद्धि किस प्रकार होती है, 'अनुभव' (Experience) में वह कैसा जंचता है। क्या वह सिद्धान्त हमारे उद्देश्य को पूरा करता है, या नहीं, हमारी समस्याओं को हल करता है, या नहीं। अगर पूरा करता है, अगर उससे हमारी क्रिया सिद्धि होती है, अगर वह हमारी समस्याओं को हल करता है, अगर 'अनुभव' से वह ठीक जंचता है, तब तो वह ठीक है, अन्यथा नहीं। संसार में 'निरपेक्ष सत्य' (Absolute truth) कहीं नहीं, परमार्थ-सत्य का विचार मनुष्य को आगे बढ़ने से रोकता है। हम अनुभव से, किसी चीज से काम लेकर ही पता सकते हैं कि वह वस्तु कारगर है या नहीं, अगर उसमें क्रिया सिद्धि होती है, तब ठीक, नहीं होती, तब सब लोग मिलकर भी उसका समर्थन क्यों न करें, वह निरर्थक है।

(२) इसके अतिरिक्त हम व्यक्ति पर स्वतन्त्र रूप में विचार कर ही नहीं सकते। वह घर में जन्म लेता है, स्कूल में जाकर एक सामाजिक समुदाय में रहता है, स्कूल से निकलकर भी समाज में ही जीवन व्यतीत करता है। या तो वह समाज में जीवन व्यतीत कर रहा होता है, या समाज में जीवन व्यतीत करने की तय्यारी कर रहा होता है। इसलिए किसी भी बात को परखने का दूसरा

सिद्धान्त यह है कि इससे 'सामाजिक सौकर्य' (Social efficiency) कहां तक बढ़ती है।

(२) हमारा सम्पूर्ण सामाजिक जीवन गुथा हुआ है, उसमें पृथकता नहीं, एकता है। डाक्टर को दुकानदार से, दुकानदार को वकील से, वकील को अध्यापक से, अध्यापक को बढ़ई से, और इन सब को एक दूसरे से काम पड़ता है। 'सामाजिक-सौकर्य' (Social efficiency) तभी हो सकती है जब समाज एक समुदाय के रूप में बर्ते। हमारा एक दूसरे से जो सम्बन्ध है उसे हम पहचानें और सब का सब के साथ सहयोग हो—हम अपने-अपने पृथक-पृथक समुदाय में ही अपने को इस प्रकार न बांधे रहें, जैसे जाट जाटों की, बनिये बनियों की और राजपूत राजपूतों की बिरादरी बनाये बैठे हैं। 'सामाजिक-सौकर्य' के लिये सब इतरेतराश्रय ही रह सकते हैं।

क्रिया सिद्धि-वाद का 'शिक्षा' पर प्रभाव—

इस 'वाद' का 'शिक्षा' पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ रहा है। डयूई का कथन है कि जब बालक के विषय में हम उसे समाज से अलग करके सोच ही नहीं सकते, वह हर समय या तो समाज में है या सामाजिक जीवन के लिये तय्यारी कर रहा है, तब आदर्श पाठशाला की कल्पना करते हुए हमें यही सोचना होगा कि पाठशाला भी एक छोटा-सा समाज है। 'परिवार', 'पाठशाला' और 'समाज' के वातावरण में अगर जमीन आसमान का अन्तर है, तो ये तीनों असफल सिद्ध होंगे। तीनों का पारस्परिक सामञ्जस्य आवश्यक है। कई लोग गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के सम्बन्ध में यही आक्षेप करते हैं कि उसमें ब्रह्मचारियों को सामाजिक परिस्थितियों से निरा कोरा रखा जाता है। 'गुरुकुल' शब्द का अर्थ है 'गुरु' का 'कुल', अर्थात् 'परिवार'। 'गुरुकुल' का अर्थ

है कि परिवार की भावना घर में ही नहीं पाठशाला में भी बनी रहे, इस दृष्टि से इनका उद्देश्य वर्तमान पाठशालाओं से बहुत ऊंचा है। हॉं, सामाजिक परिस्थितियों से गुरुकुलों का दूर रखा जाता है—यह अवश्य विचारणीय है। जो पाठशाला बालकों को सामाजिक जीवन के लिए तय्यार नहीं करती वह असफल है। पाठशाला तथा समाज में सिर्फ इतना ही अन्तर होना चाहिये कि समाज का दूषित वातावरण पाठशाला में न हो, परन्तु अगर इतना भारी अन्तर है कि पाठशाला में रहते हुए बालक समाज से सर्वथा अनभिज्ञ हैं, उन्हें बाजार में सौदा लेना नहीं आता, बैंक में रुपया जमा नहीं कर सकते, रेलगाड़ी में इकट्ठा सफर नहीं कर सकते, तब पाठशाला बालकों को सामाजिक जीवन में चतुर नहीं बना सकती।

हम समाज में देखते हैं कि वे ही व्यक्ति किसी काम को तत्परता से, उत्साह से और सफलता से करते हैं जो अपने सामने किसी लक्ष्य को बना लेते हैं। हम मकान बनाना है, फिर हम तत्परता से सब काम छोड़ कर उसमें जुट जाते हैं, अगर अपने रहने के लिए मकान बनाना है, तब तो तत्परता और भी बढ़ जाती है। बालकों के सम्मुख भी जब इसी प्रकार का कोई लक्ष्य होता है तब उनकी क्रिया शीलता चरम सीमा को पहुंच जाती है। शिक्षा देते हुए बालक के सम्मुख कोई 'लक्ष्य' (Object), कोई प्रयोजन' (Purpose), कोई 'योजना' (Project), कोई समस्या' (Problem) रख देनी चाहिए, फिर वह उसे हल करने में जी जान से जुट जाता है। जब बालक इस प्रकार किसी 'प्रयोजन' या 'योजना' को लेकर चलता है तब वह 'अनुभव' से काम करके बहुत कुछ सीख जाता है। 'क्रिया सिद्धि वाद' (Pragmatism) का यह भी कथन है कि समाज में सब एक दूसरे

के सहारे टिके हुए हैं, इसलिये पढ़ाई में भी प्रत्येक विषय को दूसरे से जोड़कर पढ़ाना ही पढ़ाने का सर्वोत्तम प्रकार है, इसी सिद्धांत को शिक्षा-शास्त्री 'सानुबन्ध-शिक्षा' (Correlation) का सिद्धान्त कहते हैं। अगर बालकों को बगीचा बनाने पर जुटा दिया जाय, और साथ ही उन्हें यह कह दिया जाय कि जो साग-सब्जी होगी वह उन्हीं की अपनी होगी, तो वे बगीचा लगाते-लगाते सिर्फ कृषि ही नहीं सीखेंगे, कौन बीज कहाँ होता है, कितने बीज लगाये हैं, कहाँ से कितने में खरीदे हैं—इन सब बातों को सीखते-सीखते गणित, भूगोल, दुकानदारी आदि कई बातें सीख जायेंगे। इसी विचार-धारा का अनुसरण करते हुए ड्यूई के शिष्य किलपैट्रिक ने 'प्रोजेक्ट-पद्धति' (Project method) को जन्म दिया है।

५

शिक्षा के साधक-अंग

FACTORS IN EDUCATION)

प्रायः समझा जाता है कि शिक्षा पाठशाला में ही दी जाती है। कुछ अंश मे यह ठीक भी है, परंतु पाठशाला के अतिरिक्त शिक्षा के अन्य भी अनेक साधक अंग हैं। शिक्षा के साधक-अंगों को दो भागो में बांटा जा सकता है। एक तो ये अंग हैं जिनका स्कूल के साथ संबंध नहीं, दूसरे वे हैं जो स्कूल से सम्बन्धित हैं। हम पहले शिक्षा के उन साधक अंगों का वर्णन करेंगे जिन का स्कूल के साथ सम्बन्ध नहीं है, परन्तु फिर भी उनका बालक की शिक्षा पर भारी प्रभाव पड़ता है। वे अच्छे हों तो बालक अच्छा, और वे बुरे हों, तो बालक बुरा बन जाता है। ये साधक अंग निम्नलिखित हैं:—

१—स्कूल से असम्बद्ध शिक्षा के साधक-अंग

क. घर तथा परिवार

ख. समाज तथा धार्मिक संस्थाएं

ग. सिनेमा तथा रेडियो

घ. संग्रहालय

ङ. वाचनालय तथा पुस्तकालय

घर तथा परिवार—

बालक की शिक्षा का प्रारम्भ घर तथा परिवार में होता है। शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक शिक्षा का बीज घर में ही पड़ जाता है। माता-पिता व्यायाम करते हैं तो बालक को व्यायाम का शौक हो जाता है, वे पढ़ते-लिखते हैं तो उन्हें देख कर वह भी पढ़ने का शौकीन हो जाता है, वे नियमित सन्ध्या हवन करते हैं तो वह भी धार्मिक-वृत्ति का हो जाता है। इसके विपरीत जिस परिवार में माता पिता आलसी होते हैं, सिगरेट शराब पीते हैं, उस परिवार के बालकों से यही आशा की जा सकती है कि वे आलसी होंगे, सिगरेट शराब पियेंगे। परिवार के सदस्यों के जो विचार होते हैं, देश की राजनीतिक समस्याओं पर उनकी जो सम्मतियां होती हैं, उन्हें सुन-सुन कर बालक भी वैसे ही विचारों के हो जाते हैं। अगर घर का वातावरण अच्छा है, माता पिता आपस में लड़ते-झगड़ते नहीं, तो बच्चे भी नम्र स्वभाव के, आज्ञाकारी होते हैं; अगर माँ बाप में झगड़ा चलता रहता है, गाली-गलोज हुआ करती है, तो बालक भी किसी बात की कसर नहीं छोड़ते। जिन घरानों का नैतिक माप-दण्ड बहुत ऊंचा होता है उनमें बालक भी बिना विशेष प्रयत्न के उतने ऊंचे उठ जाते हैं। घर में स्वाभाविक तौर पर सफाई रहती है, तो बालकों के स्वभाव में सफाई घुल-मिल जाती है, अगर घर में वस्तुएं जहां-वहां बिखरी पड़ी रहती हैं, तो बालक भी किसी वस्तु को सम्भाल कर रखना नहीं सीखता।

समाज तथा धार्मिक संस्थाएं—

समाज के वातावरण का, और विशेषतया धार्मिक संस्थाओं का बालक की शिक्षा पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। एक बालक हिन्दू घराने में पैदा हुआ है, वह जन्म से ही हिन्दू धर्म को मानने लगता

है। उसका जीवन का दृष्टि बिन्दु दूसरे बालक से जो मुस्लिम घराने मे हुआ है, भिन्न ही बना रहता है। ईसाई घराने में जन्म लेने वाला बालक हरेक बात को और ही दृष्टि से देखता है। धार्मिक दृष्टिकोण प्राय: जीवन की दिशा को बदल देता है। बुद्ध ने धर्म के प्रभाव मे घर छोड़ दिया, महमूद गजनी ने धर्म के प्रभाव में मन्दिरों को तोडना शुरु कर दिया। इसमें सन्देह नहीं कि अब धर्म के प्रति निष्ठा धीरे धीरे कम हो रही है, परन्तु फिर भी धर्म के नाम पर ही तो भारत के विभाजन के समय निरपराध तथा असहाय बच्चों तथा स्त्रियों के रुधिर से आतातियों ने अपने हाथ रंगे। धर्म का प्रभाव कम हो जायगा तो समाज में जो दिनोंदिन नवीन परिस्थितियां उत्पन्न होती जा रही हैं उनका असर बालक की शिक्षा पर होने लगेगा। हर हालतमें समाज बालक पर प्रभाव डालता ही रहेगा।

सिनेमा तथा रेडियो —

आज सिनेमा बालकों की शिक्षा को बड़ी जोर से प्रभावित किये हुए है। कभी-कभी स्कूलों कालेजों के विद्यार्थी आधे टिकट में सिनेमा देखने का अधिकार पाने के लिये हड़ताल कर देते हैं। सिनेमा में प्रत्येक घटना को इस मोहक रूप में दर्शाया जाता है कि मस्तिष्क पर उसकी अमिट छाप पड़ जाती है। शिक्षा की दृष्टि से अगर उच्च कोटि के सिनेमा विद्यार्थियों को दिखाये जांय तो बहुत लाभ हो सकता है, परन्तु जैसे निकम्मे सिनेमा आजकल चल रहे हैं उनके देखने पर राज्य की तरफ से प्रतिबन्ध होना चाहिये। रेडियो द्वारा निस्सन्देह अच्छे अच्छे प्रोग्राम बच्चों को भेंट किये जाते हैं। क्योंकि रेडियो का नियन्त्रण राज्य के हाथ में है अत: इससे उतने अवाछनीय संस्कार नहीं पड़ते जितने सिनेमा से पड़ जाते हैं। आजकल के युग में जब कि हरेक ग्राम लोग

आसानी से करना चाहते हैं, कोई कष्ट नहीं उठाना चाहते, रेडियो शिक्षा का सर्वोत्तम साधन हो सकता है। घर बैठे संगीत, व्याख्यान, समाचार, समालोचनाएं सुन लेना रेडियो से ही सम्भव है।

संग्रहालय —

शिक्षा का अर्थ है संसार की प्रत्येक वस्तु का ज्ञान। संसार में हर जगह कौन जा सकता है ? इसी उद्देश्य से संग्रहालयों का निर्माण किया जाता है जिससे सब जगह भटकने की जगह एक ही स्थान में सब-कुछ देखा जा सके। हम बालकों को इतिहास, भूगोल पढ़ाते हैं—वर्तमान तथा भूत की बातें बतलाते हैं, और भिन्न भिन्न वस्तुओं की चर्चा करते हैं। संग्रहालयों द्वारा इन सभी का सहज ज्ञान हो जाता है। बम्बई, कलकत्ता आदि शहरों में सरकार की तरफ से संग्रहालय हैं, परन्तु प्रगतिशील सरकार को हरेक शहर में संग्रहालय बनाने चाहियें जिससे बालक उनमें सब वस्तुओं को अपनी आंखों से देखकर शिक्षा प्राप्त कर सकें। माता-पिता तथा शिक्षकों का भी कर्तव्य है कि वे समय-समय पर बालकों को संग्रहालयों में ले जाकर, जहा तक हो सके, प्रत्येक वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान करायें।

वाचनालय तथा पुस्तकालय—

दैनिक, साप्ताहिक, मासिक पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा शिक्षा का महान् भण्डार प्रतिदिन वितरण होता रहता है। इनमें सब प्रकार की सामग्री रहती है। राजनीति में रुचि रखने वालों के लिए राजकर्माओं के भाषण, व्यापार में रुचि रखने वालों के लिए वस्तुओं के भाव, खेल में रुचि रखने वालों के लिए भिन्न-भिन्न सामुस्यों के समाचार—समाचार-पत्रों में सभी कुछ रहता है। जो बालक समाचार पढ़ने लग जाते हैं, उनकी आधी शिक्षा

तो इन पत्रों द्वारा ही हो जाती है। आजकल भिन्न भिन्न शहरों मे डिस्ट्रिक्ट बोर्डों, म्यूनिसिपैलिटियों तथा सार्वजनिक संस्थाओं की तरफ से वाचनालय खुले हुए हैं जिनमे प्राय सभी प्रसिद्ध प्रसिद्ध समाचार पत्र आते हैं। शिक्षा मे इनका बडा स्थान है। वाचनालय के अलावा पुस्तकालया का महत्व किसी प्रकार कम नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति के लिये पुस्तक खरीद सकना संभव नहीं, न ही प्रत्येक पुस्तक ऐसी होती है जिसे अपने पास रखना आवश्यक ही हो, किसी एक बात के जानने भर के लिये उस की आव श्यकता होती है। ऐसी अवस्था में पुस्तकालयों का होना आव श्यक है ताकि पढ़ी लिखी जनता उनसे ज्ञान वृद्धि कर सके। हर्ष का विषय है कि राष्ट्रीय सरकार गावों में पुस्तकालयों की योजना पर विशेष ध्यान दे रही है।

२—स्कूल से सम्बद्ध शिक्षा के साधक अंग

(अध्यापन तथा अध्यापक)

बालक की शिक्षा में स्कूल से असंबद्ध जो साधक अंग हैं उनका वर्णन हम कर चुके। अब हम उन साधक अंगों का वर्णन करेंगे जिनका स्कूल से ही विशेष सम्बन्ध है। स्कूल का संबंध मुख्य तौर पर 'बालक', 'अध्यापन' तथा 'अध्यापक'—इन तीनों से है। बालक के सम्बन्ध में तो हमने 'शिक्षा मनोविज्ञान' नामक अलग ग्रन्थ लिखा है, उस में बालक के संबंध में विस्तृत विवरण दिया गया है। अध्यापन में शिक्षक के लिए कौन कौन से साधक अंग हैं उन का संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जाता है। इन्हीं अंगों को कई लेखकों ने 'शिक्षा की विधियाँ' (Devices in Education) के नाम से दिया है। अध्यापन करते हुए शिक्षक को निम्न बातों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है—

(क) अध्यापक की ध्वनि
(ख) अध्यापक की भाषा
(ग) विषय की तैयारी
(घ) प्रश्न तथा उनके पूछने की विधि
(ङ) प्रश्नों के उत्तर
(च) उदाहरण
(छ) व्याख्या तथा वर्णन
(ज) लिखित-कार्य
(झ) गृह-कार्य
(ञ) पाठ्य पुस्तक
(ट) श्यामपट
(ठ) स्कूल का संग्रहालय, वाचनालय, पुस्तकालय

अध्यापक की ध्वनि (Voice and Tone)—

कई अध्यापक एक ही ध्वनि में घंटे के शुरू से अन्त तक बोलते जाते हैं। यह ठीक नहीं। अच्छे व्याख्याता की तरह जहाँ ऊँचा बोलना हो वहाँ ऊँचा, जहाँ नीचा बोलना हो वहाँ नीचा बोलना चाहिये। एक ही ध्वनि को सुनते-सुनते बालक थक जाते हैं। कई अध्यापक बहुत चिल्लाते हैं। वे समझते हैं, जितना ही वे ऊंचा बोलेंगे उतना ही विद्यार्थी जल्दी समझेंगे। असल बात यह है कि जब अध्यापक स्वयं किसी विषय को ठीक नहीं समझता तब ऊंचा चिल्लाकर सन्तोष करता है। बात समझने से समझ में आती है, चिल्लाने से नहीं। न बहुत ऊंचा बोले, न बहुत नीचा, तुला हुआ बोले, और स्वयं ही न बोलता जाय, आवश्यकता पड़ने पर विद्यार्थियों को भी अपनी कहने दे—यही शिक्षा का ठोस नियम है।

अध्यापक की भाषा (Language)—

कई अध्यापक अपना पांडित्य दिखाने के लिए बच्चों के सामने भी ऐसी भाषा बोलते हैं जिसे बड़े भी न समझ सकें। बच्चों के सामने बच्चों की सी, और बड़ों के सामने बड़ों की-सी भाषा का प्रयोग ही अच्छे शिक्षक की चतुरता है। भाषा भाव प्रकट करने का साधन है, पण्डिताई दिखाने का नहीं—विशेष तौर पर शिक्षक के लिये।

विषय की तैयारी (Preparation and Planning)—

प्राय. देखा गया है कि अध्यापक बिना किसी तैयारी के पढ़ाने आ बैठते हैं। जो स्वयं किसी विषय को नहीं समझा वह दूसरे को भी नहीं समझा सकता, इसलिए विद्यार्थी भी उनसे कुछ नहीं समझ पाते। ऐसे अध्यापक केवल पाठ्य पुस्तक को पढ़ते जाते हैं—न उनके पल्ले कुछ पड़ता है, न लड़कों के पल्ले। जो अध्यापक किसी विषय को जितना स्वयं गहराई से समझा हुआ होगा वह उतनी ही जल्दी विद्यार्थियों को समझा सकेगा—सूखे से तो नदी नहीं बहती, भरी झील से ही नदी निकलती है। तैयारी करते हुए अध्यापक को स्वयं कई नई नई बातें सूझती हैं। प्रत्येक अध्यापक के लिए आवश्यक है कि जब भी पढ़ाने जाय पूरी तैयारी करके जाय, और अगर एक ही पाठ को अनेक बार भी क्यों न पढ़ाना पड़े, उसकी अनेक बार ही तैयारी करे। जो अध्यापक पूरी तैयारी से पढ़ाते हैं उनका अनुभव है कि पढ़ाते हुए उन्हें थकावट नहीं होती। इसका कारण यह है कि बिना तैयारी करके पढ़ाने में स्वयं समझने और विद्यार्थी को समझाने के दो काम इकट्ठे करने पड़ते हैं, और तैयारी के बाद पढ़ाने में केवल समझाने का ही काम करना पड़ता है।

पढ़ाने की तैयारी किस प्रकार करनी चाहिए इस विषय पर जर्मनी के शिक्षा शास्त्री हर्बार्ट के पाँच शिक्षा क्रम (Herbart's Five Steps) प्रसिद्ध हैं जो निम्नलिखित हैं —

(क) तैयारी (Preparation)

(ख) निरीक्षण (Presentation)

(ग) तुलना तथा निष्कर्ष (Comparison and Abstraction)

(घ) नियम निर्धारण (Generalisation)

(ङ) प्रयोग (Application)

तैयारी—तैयारी का उद्देश्य यह है कि विद्यार्थी के सम्मुख आगे आने वाली समस्या को खोलकर स्पष्ट रख दिया जाय। उसे मालूम हो कि किस प्रश्न को उसे हल करना है। अध्यापक का कौशल इसी में है कि आनेवाली समस्या को हल करने में विद्यार्थियों का अब तक का जो सञ्चित ज्ञान है, अब तक का जो 'पूर्वानुवर्ती ज्ञान' (Apperceptive mass) है, उसे जागृत कर दे, और उन्हें नवीन विषय के ज्ञान में किसी प्रकार की घबराहट न हो। इसके लिये ५ मिनट काफी हैं।

निरीक्षण—*अध्यापक का दूसरा काम उस सम्पूर्ण सामग्री को* विद्यार्थियों के सम्मुख रख देना है, जिसके आधार पर वे अपने सामने खड़ी हुई समस्या को हल कर सकते हैं। कई उदाहरण, कई प्रयोग, कई घटनाएं विद्यार्थियों के सामने रख कर स्वयं परिणाम निकालने के लिये उन्हें तैयार करना होता है। इसमें सबसे अधिक समय लगता है। २५-३० मिनट इसमें लग जाते हैं।

तुलना तथा निष्कर्ष—प्रश्न के स्पष्ट हो जाने तथा उस प्रश्न पर प्रकाश डालनेवाली सामग्री के उपस्थित हो जाने के

बाद उदाहरण, प्रयोगों, घटनाओं की समानता-असमानता को, उनकी तुलना को करना आवश्यक है। यह तुलना इस प्रकार करनी चाहिए जिससे विद्यार्थी स्वय परिणाम निकाल सके। जब अध्यापक अनेक बातो को विद्यार्थी के सम्मुख रखकर उनकी तुलना करने लगता है तो उसमें से स्वय कई नियम निकलते दीख पड़ने लगते हैं। इसी को 'निष्कर्ष' कहते हैं।

नियम-निर्धारण—निष्कर्ष निकलते ही विद्यार्थियों के सम्मुख खड़ा हुआ प्रश्न हल हो जाता है, समस्या, समस्या नहीं रहती, उन्हें नियम स्पष्ट रूप में दीखने लगता है। अगर विद्यार्थियों को नियम स्पष्ट न हो तो समझना चाहिये कि 'तैयारी' तथा 'निरीक्षण' में कहीं दोष रह गया है। विद्यार्थियों को ऐसा प्रतीत होना चाहिये कि उन्होंने स्वय नियम निर्धारण किया है, अध्यापक ने उन्हें अपनी तरफ से बता नहीं दिया।

प्रयोग—नियम निर्धारण कर चुकने पर उसकी सत्यता सिद्ध करने के लिये उसे भिन्न भिन्न जगह, और भिन्न-भिन्न प्रकार से घटाकर दिखाना चाहिए, जिससे विषय बिल्कुल स्पष्ट हो जाय, उसमें रही-सही अस्पष्टता भी न रहे। इस प्रकार 'प्रयोग' के बाद शिक्षक को बालकों से प्रश्न पूछने चाहियें जिससे उसे मालूम पड़ जाय कि बालक विषय को कहाँ तक समझे हैं।

विचार प्रक्रिया में 'आगमन' (Inductive) तथा 'निगमन' (Deductive)—ये दो प्रक्रियाएं होती हैं। इनका वर्णन इसी पुस्तक में अन्य स्थान पर किया गया है। हर्बार्ट के इन पाँच क्रमों में 'आगमन' (Induction) तथा 'निगमन' (Deduction) दोनों को जोड़ दिया गया है, और इनके जुड़ कर काम करने से ही विचार-प्रक्रिया ठीक तौर पर चलती है।

प्रश्न तथा उनके पूछने की विधि (Types of Questions)—

प्रश्नों द्वारा विषय को स्पष्ट करने का तरीका बहुत पुराना है। उपनिषदों में शिष्य प्रश्न करते हैं, गुरु उत्तर देते हैं। कभी-कभी गुरु भी प्रश्नों द्वारा शिष्य को सिखाता है। सुकरात की अपने विचारों को जनता तक पहुचाने की प्रणाली 'प्रश्न प्रणाली' ही थी। अध्यापक भी विद्यार्थी से प्रश्न करके उसी से उत्तर निकलवा सकता है, और उस के उत्तरों से समझ सकता है कि विद्यार्थी विषय को समझा या नहीं।

प्रश्न दो प्रकार के हो सकते हैं :—'जाँच करने वाले प्रश्न' तथा 'ज्ञान देने वाले प्रश्न'। 'जाँच करने वाले प्रश्न' पाठ के प्रारभ तथा अन्त में किये जाते हैं। प्रारभ में इसलिये जिससे नवीन विषय को समझने के लिये बालक तैयार हो जाय। इनसे विषय समझने की भूमिका बध जाती है। ये प्रश्न अन्त में इसलिये किये जाते हैं जिससे यह पता चल जाय कि बालक विषय को समझ गये हैं, या नहीं। 'ज्ञान देने वाले प्रश्न' नई बातें सिखलाते समय किये जाते हैं। इन प्रश्नों द्वारा बालक का मस्तिष्क नई बातों को खोजने की तरफ तेजी से चल पड़ता है। अगर शिक्षक देखे कि विद्यार्थी अभी विषय को समझने की तरफ ठीक ठीक नहीं चला, तो छोटे-छोटे तथा सरल प्रश्नों द्वारा उसे ठीक दिशा की तरफ ले जाने का प्रयत्न करना आवश्यक हो जाता है।

शिक्षक के लिये यह भी जानना आवश्यक है कि प्रश्न कैसे हों ? प्रश्न सरल भाषा में पूछे जाने चाहियें, उनके अनेक उत्तर न होकर एक ही उत्तर होना चाहिये, छोटे होने चाहियें, एक प्रश्न में एक ही बात पूछनी चाहिये, प्रश्न में ही उत्तर नहीं आजाना चाहिये, हां-ना में ही उत्तर नहीं आना चाहिये, प्रश्न

न विद्यार्थियों के बुद्धि-स्तर से बहुत ऊंचे ही होने चाहियें, न बहुत नीचे ही, उनका उत्तर सोचने में बुद्धि को कुछ जोर लगाना पड़े इतने कठिन अवश्य होने चाहिये, और प्रश्न स्पष्ट तथा निश्चित होने चाहिये।

इसके अतिरिक्त शिक्षक के लिए यह भी जानना आवश्यक है कि प्रश्न किस ढंग से पूछने चाहियें। एक ही विद्यार्थी से बार बार प्रश्न नहीं करना चाहिए, सारी कक्षा से प्रश्न करना चाहिए ताकि उत्तर देने के लिए सभी तैयार रहें, फिर भले ही किसी से भी पूछ लिया जाय, प्रश्न करते हुए किसी एक विद्यार्थी की तरफ संकेत कर देने से दूसरे सोचना छोड़ देते हैं इसलिए प्रश्न पूछने से पहले किसी की तरफ संकेत नहीं करना चाहिए, प्रश्न करते हुए कठोरता नहीं धारण करनी चाहिए, इस ढंग से प्रश्न करने चाहियें जिससे जिन विद्यार्थियों को विषय नहीं आता उन्हें भी स्पष्ट होता जाय।

प्रश्नों के उत्तर (Answers)—

प्राय: बालक मुंह मुंह में ही उत्तर दे जाते हैं, वे इतना अस्पष्ट उत्तर देते हैं कि पास खड़े हुए को भी सुनाई नहीं देता। इसका कारण यह है कि उन्हें अपने उत्तर के ठीक होने का भरोसा नहीं होता। जो बालक जितना ठीक जानता होगा वह उतना ही स्पष्ट और जोरदार उत्तर देगा। अगर बालक ऐसा उत्तर दे जो आधा ठीक, आधा गलत हो, उसे सर्वथा गलत कह देना ठीक नहीं, जितना उत्तर ठीक हो उतना ही ठीक, जितना गलत हो, उतना ही गलत बतलाना चाहिए। विद्यार्थियों से यह भी अभ्यास कराना चाहिए कि उत्तर देते हुए क्रम-बद्ध विचार-धारा में उत्तर दें, यूं ही असम्बद्ध रूप से न बोलते जायें। अगर उनसे भारतीय स्वतन्त्रता पर निबन्ध लिखने को, या

अपने विचार प्रकट करने को कहा जाय, तो शिक्षक के लिए यह देखना आवश्यक है कि विद्यार्थी किसी क्रम से अपने विचारों को प्रकट करता है, या यूं ही जो विचार आता जाता है उसे लिखता या कहता चला जाता है। उत्तर देते हुए अपने विचारों को किसी क्रम से प्रकट करने की आदत विद्यार्थी में डालनी चाहिये।

उदाहरण (Illustration) —

किसी चीज को समझने के लिए उस चीज को दिखा देना या उससे मिलती-जुलती चीज को दिखा सकना शिक्षा में बहुत उपयोगी है। मॉडल, चित्र, ड्राइङ्ग से हम उस चीज के असली रूप को नहीं तो उससे मिलते-जुलते रूप को दिखा सकते हैं। सब से अच्छा तो यह है कि उस वस्तु को ही दिखा दिया जाय, उसे न दिखा सकें तो उसके मॉडल बना कर दिखाना चाहिये, यह भी न हो सके तो उसका चित्र दिखा देना चाहिए, चित्र भी न मिले तो अपने हाथ से उसकी ड्राइङ्ग बना कर दिखा देना चाहिए क्योंकि आंखों द्वारा जो वस्तु देखी जाती है उससे अधिक स्पष्ट ज्ञान होता है। जहां तक हो सके चित्रों में अशुद्धि नहीं होनी चाहिए क्योंकि अगर बालक अशुद्ध चित्र को देख कर कोई विचार बना लेगा तो उसी को ठीक समझने लगेगा।

व्याख्या तथा वर्णन (Explanation and Description) —

कई बातें अध्यापक की व्याख्या तथा उसके विशेष वर्णन के बिना विद्यार्थियों को स्पष्ट नहीं होतीं। शिक्षा की पुस्तक में कहीं 'मोनीटर पद्धति' शब्द आ गया। इतने से विद्यार्थी को क्या पता लग सकता है? शिक्षक को इसकी व्याख्या करनी होगी। कभी-कभी व्याख्या के अतिरिक्त किसी किसी बात का वर्णन भी

करना होगा। पढ़ाते-पढ़ाते 'अमरीका की राज्य-क्रान्ति' का कहीं उल्लेख आ गया। यहां व्याख्या से काम नहीं चलेगा क्योंकि व्याख्या तो शब्द के अर्थ का खुलासा करती है; यहां 'अमरीका की राज्य-क्रान्ति' का छोटा-मोटा वर्णन कर विद्यार्थियों को समझाना होगा।

लिखित-कार्य (Written Work)—

अध्यापक विद्यार्थियों को लिखित कार्य देते हैं, परन्तु अगर वे उसे जाचते नहीं तो यह-सब बेकार है। जाँचने पर भी अगर विद्यार्थी को यह पता नहीं लगता कि उसने क्या अशुद्धि की है, तब भी लिखित कार्य देना बेकार है। प्राय देखा जाता है कि विद्यार्थी एक ही अशुद्धि को बार बार करते हैं। इसका यही कारण है कि लिखित कार्य किसी ढङ्ग से नहीं चलता। कई अध्यापक इतना लिखित-कार्य दे देते हैं जिसे जाँच नहीं सकते; कई अध्यापक इतने सुस्त होते हैं कि कार्य देकर भी उसे नहीं जाँचते। सबसे अच्छा यह है कि अध्यापक लिखित-कार्य देखकर मोटी-मोटी अशुद्धियाँ नोट कर ले और सबको कक्षा में समझा दे ताकि विद्यार्थी वैसी अशुद्धियां आगे से न करें। यह भी अच्छा है कि जिसकी कापी हो उसी से अपने सामने जाँच कराये और उसी से प्रश्न कर-करके शुद्ध कराये ताकि वह आगे से वैसी अशुद्धि न करे।

गृह कार्य (Home Work)—

प्राय विद्यार्थी पुस्तकों का थैले-का-थैला घर ले जाते हैं। प्रत्येक अध्यापक उन्हें भरपूर कार्य घर करने के लिए दे देता है। काम इतना हो जाता है कि या तो विद्यार्थी कुछ करके ही नहीं लाते, अगर लाते हैं तो सब बेसिरा। जल्दी-जल्दी में हो भी क्या सकता है। भारतीय परिस्थिति में तो कई बालक ऐसे

भी हैं जिन्हें स्कूल में जाकर पढ़ना होता है, घर में आकर माता-पिता का घर के काम में भी हाथ बटाना होता है। उनके लिये तो स्कूल में दिया हुआ गृह-कार्य कर सकना असम्भव हो जाता है। गृह-कार्य की समस्या को हल करने के लिये आवश्यक है कि अध्यापकों का आपस में सहयोग हो। एक दिन एक अध्यापक कार्य दे, दूसरे दिन दूसरा। इस उद्देश्य से एक ही कक्षा के अध्यापकों का परस्पर मिल कर सब-कुछ तय कर लेना आवश्यक है, तभी गृह-कार्य देने से कुछ लाभ हो सकता है, और यह समस्या हल हो सकती है।

पाठ्य-पुस्तक (Text Book)—

आजकल इस बात पर बल दिया जाता है कि पाठ-विधि में 'पाठ्य-पुस्तक' न रखकर 'पाठ्य-विषयों' का निर्देश कर देना चाहिए, और अध्यापक तथा विद्यार्थी को अनेक पुस्तकों में से स्वयं मेहनत करके भिन्न-भिन्न विषयों का पढ़ना चाहिये। बात भी ठीक है, जब विद्यार्थी भिन्न-भिन्न पुस्तकों में से किसी विषय की तैयारी करेगा तब उसका ज्ञान एक ही पाठ्य-पुस्तक में से सब-कुछ पढ़ जाने की अपेक्षा अधिक होगा। परन्तु हमारा दुर्भाग्य है कि अभी हमारे शिक्षक भी इस योग्य नहीं जो भिन्न-भिन्न पुस्तकों में से अपने विषय की तैयारी करके विद्यार्थियों को पढ़ायें। कालेज के प्रोफ़ेसरों के लिए तो यह बात ठीक है कि वे एक ही पाठ्य-पुस्तक पर निर्भर न कर सब जगह से संग्रह करके एक विषय को विशद करने का प्रयत्न करें, परन्तु अभी स्कूल में जो अवस्था है उसे देखते हुए पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। हाँ, अच्छा यही है कि विद्यार्थियों में इतनी योग्यता उत्पन्न कर दी जाय जिससे वे अपने परिश्रम से 'पाठ्य-पुस्तक' पर निर्भर न रह कर 'पाठ्य-विषय' को भिन्न भिन्न

ग्रन्थों से बटोर सकें। छोटी कक्षाओं के लिए तो हर हालत में पाठ्य-पुस्तकों की ही आवश्यकता रहेगी और उन्हें ऐसे ढङ्ग से लिखना होगा जिससे बालक उन्हें आसानी से समझ सकें।

श्यामपट (Black Board)—

शिक्षक श्यामपट को मेज-कुर्सी की तरह स्कूल का फर्नीचर-मात्र समझते हैं, शिक्षा में इसके महत्व को नहीं समझते। मनोविज्ञान का यह नियम है कि ज्ञान जितने भी अधिक द्वारों से आता है उतना ही मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव छोड़ता है। कान से सुनने के साथ-साथ आँख से देखना ज्ञान को स्पष्ट तथा निश्चित बनाता है। शिक्षक को श्यामपट का अधिक-से-अधिक उपयोग करना चाहिए। जो कुछ पढ़ाया जाय उसका निचोड़ श्यामपट पर लिखता जाय ताकि विद्यार्थियों के लिए सब कुछ स्पष्ट होता जाय। लिखते हुए शुद्ध लिपि में लिखना आवश्यक है, नहीं तो अध्यापक के टेढ़े मेढ़े अक्षरों की नकल करने के कारण विद्यार्थियों के अक्षर भी बिगड़ सकते हैं। श्यामपट का प्रयोग करते हुए शिक्षक को एक तरफ खड़े होकर लिखना चाहिए, कई शिक्षक बार्ड के सामने खड़े होकर लिखने लगते हैं, श्यामपट ऐसी जगह रखना चाहिए जहाँ से सब विद्यार्थी देख सकें, जहाँ पर्याप्त प्रकाश हो, जहाँ चौंध न पड़ती हो; श्यामपट पर इतनी ही बातें लिखनी चाहियें जो उसे इतना न भर दें कि वह किताब-सी बन जाय; पुराने निशान मिटा देने चाहियें; श्यामपट पर समय-समय पर स्याही फिरवा लेनी चाहिए ताकि वह ठीक काम दे सके; पट को ठीक रखने की विद्यार्थियों की बारी बाँध देनी चाहिए।

संग्रहालय, वाचनालय, पुस्तकालय—

स्कूल से बाहर जो संग्रहालय (Museums), वाचनालय (Reading Rooms) तथा पुस्तकालय (Libraries) हैं

उनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। स्कूल के भीतर भी संग्रहालय, वाचनालय तथा पुस्तकालय का होना आवश्यक है। भूगोल, जीव-विज्ञान आदि के अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों को अपना संग्रहालय बनाने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए, स्कूल का अपना संग्रहालय तो होना ही चाहिए। स्कूल के वाचनालय तथा पुस्तकालय में ऐसी पुस्तकें रहनी चाहिएँ जो विद्यार्थियों के सामान्य-ज्ञान को बढ़ाएं। पाठ्य पुस्तकों की कई-कई प्रतियाँ रहनी चाहिए ताकि गरीब विद्यार्थी उनसे लाभ उठा सकें। प्रायः देखा जाता है कि स्कूल विद्यार्थियों से पुस्तकालय के नाम से फ़ीस लेते रहते हैं, परन्तु विद्यार्थियों में पुस्तकें पढ़ने का शौक पैदा नहीं करते। जिस किसी तरह हो फ़ीस जमा हो जाय, रुपया आ जाय, यह हमारा उद्देश्य नहीं होना चाहिए। शिक्षकों का कर्तव्य है कि बालक जिस स्तर का हो उसे वैसी पुस्तक पढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया जाय। बचपन में कहानी की पुस्तक पढ़ना समझ में आता है, परन्तु उम्र भर कहानी-ही-कहानी पढ़ते रहना सिद्ध करता है कि हमने अपने बालकों में उत्तम पुस्तकें पढ़ने का शौक पैदा नहीं किया।

३—स्कूल से सम्बद्ध शिक्षा के अन्य साधक-अंग
(प्रधानाध्यापक)

हमने लिखा था कि स्कूल में 'बालक' 'अध्यापन' तथा 'अध्यापक' ये तीन मुख्य हैं जिन में से 'बालक' पर तो हम 'शिक्षा मनोविज्ञान'-नामक विस्तृत ग्रन्थ लिख चुके हैं, 'अध्यापन' के सम्बन्ध में आवश्यक बातों का हम अभी उल्लेख कर चुके, अब हम 'अध्यापक' के सम्बन्ध में कुछ मोटी-मोटी बातें लिखेंगे।

'अध्यापक' के वर्ग में मुख्य काम 'प्रधानाध्यापक' का है। 'प्रधानाध्यापक' को स्कूल का प्रबन्ध करने के लिये अनेक

बातें करनी होती हैं परन्तु हम यहाँ निम्न बातों पर ही कुछ लिखेंगे, अन्य बातों पर पुस्तक में जहां तहां कहीं विस्तार और कहीं संक्षेप से लिखा ही गया है —

(क) प्रधानाध्यापक के कर्त्तव्य समझना
(ख) समय विभाग को बनाना
(ग) छात्रों के माता पिताओं से सहयोग
(घ) छात्रावास का प्रबन्ध करना

प्रधानाध्यापक (Headmaster) —

'प्रधानाध्यापक' के सम्बन्ध में पुराना विचार यह था कि यह एक जल्लाद है, हाथ में बेंत लिये घूमता है विद्यार्थी और अध्यापक दोनों उस से डरते थे। मौका पड़ने पर अध्यापक उसे सहयोग देने के स्थान में उसके विरुद्ध ऐसे षड्यन्त्र रचते थे जैसे आततायी राजा के विरुद्ध प्रजा रचती है। वह डरता था तो सिर्फ इंस्पेक्टर से, और किसी से नहीं। अब ये सब विचार बदल गये हैं। 'प्रधानाध्यापक' के लिये आवश्यक है कि वह अपने जीवन तथा आचरण से अन्य अध्यापकों तथा विद्यार्थियों के लिये आदर्श बन कर रहे; इस बात को समझे कि परीक्षा में पास करा देना मात्र उसका लक्ष्य नहीं है, विद्यार्थियों की शिक्षा के साथ उनके आचार-व्यवहार को बनाना भी उसका काम है; अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखे परन्तु उसके साथ ही हरेक के साथ सहानुभूति का बर्ताव करे, हर समय हुकूमत ही न चलाये, इस प्रकार बर्ते कि अपनी तरफ से प्रार्थना करे तो दूसरे उसकी प्रार्थना का आज्ञा की तरह पालन करें; साथ ही अध्यापकों का सहयोग पाने के लिये उन्हें भी सहयोग दे; पाठशाला की शांति भंग करने वाले तत्वों को उत्पन्न ही न होने दे, हो जायं तो उनका शीघ्र प्रतिकार करे; इंस्पेक्टर से डरने के बजाय उसे अपना मित्र

समझे; माता-पिता के सहयोग को पाने का प्रयत्न करे; विद्यार्थियों के सामने ही अध्यापकों की त्रुटि प्रदर्शित न करे, जो-कुछ कहना हो अलग बुला कर कहे, विद्यार्थियों के खेल आदि में भाग ले, स्वयं खेल न सके तो उनके खेलों में उपस्थित अवश्य रहे।

समय विभाग-चक्र (Time-Table)—

'प्रधानाध्यापक' को चाहिए कि समय-विभाग बनाते हुए कठिन विषयों को ऐसे समय में रखे जब बालकों के मस्तिष्क ताजे हों। स्कूल के अन्तिम घण्टों में गणित के प्रश्न हल कराना असफलता को निमन्त्रित करना है। स्कूल लगने के दूसरे अन्तर में विद्यार्थी काम के लिए बहुत अधिक तैयार होता है क्योंकि पहले अन्तर में तो अभी वह बाहर से आया ही होता है, दूसरे अन्तर तक वह अपने को स्कूल के वातावरण के लिए बिल्कुल तैयार कर चुका होता है। विषयों में विविधता का ध्यान रखना भी आवश्यक है। ज्यामिति के पीछे ही बीजगणित आ जाना ठीक नहीं। समय-विभाग ऐसा भी नहीं बनाना चाहिए जिससे एक दिन विद्यार्थी को पाँच विषयों में गृह-कार्य करना पड़े, एक दिन सिर्फ दो विषयों में। गृह-कार्य के साथ समय विभाग को मेल खाना चाहिए। छोटे बालक १० मिनट से ज्यादा ध्यान नहीं जमा सकते, उनके अन्तर ३० ही मिनट के होने चाहिएँ, बड़ों के ४५ मिनट के, परन्तु जिस विषय को कम समय मिलना चाहिए उसे कम ही देना चाहिए, परीक्षणों तथा हाथ के काम को ज्यादा मिलना चाहिए अतः उन्हें ज्यादा ही समय देना चाहिए। प्रत्येक कक्षा में 'समय विभाग' की प्रति रहनी चाहिए। 'प्रधानाध्यापक' के कमरे में तीन तरह का समय-विभाग रहना चाहिए। एक ऐसा जिससे मालूम पड़ जाय कि इस समय कौन-सी श्रेणी क्या कार्य कर रही है; दूसरा ऐसा जिससे मालूम पड़ जाय कि इस समय कौन अध्यापक क्या

कार्य कर रहा है, तीसरा ऐसा जिससे मालूम पड़ जाय कि इस समय किस अध्यापक का अन्तर खाली है। इससे प्रबन्ध में बहुत सुविधा होती है।

माता पिताओं से सहयोग (Parental co operation) —

इस समय अवस्था ऐसी है कि प्रधानाध्यापक की शक्ति एक दिशा में लग रही है, माता पिताओं की उसके विरुद्ध दिशा में। अध्यापक चाहता है कि बालक पढ़े, माता-पिता चाहते हैं कि बालक पढ़ने के साथ साथ घर का भी काम काज करे, ब्याह-शादियों में भी जाय। अध्यापक का काम तभी ठीक से चल सकता है जब अध्यापक, बालक तथा माता पिता एक ही दिशा में शक्ति लगायें।

इसका उपाय यही है कि माता पिता अध्यापक के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करें और अध्यापक माता-पिता के साथ सहानुभूति-पूर्ण सपर्क स्थापित करके उन्हें अपना दृष्टिकोण समझाये। अध्यापक के लिए प्रत्येक माता पिता से वैयक्तिक तौर पर मिल सकना तो सम्भव नहीं है, परन्तु बालकों द्वारा वह माता-पिता को अच्छी तरह प्रभावित कर सकता है। चतुर अध्यापक इस ढंग से काम कराता है कि बालक घर जाकर अपने माता पिता से 'मास्टरजी' की ही चर्चा किया करता है। कई अध्यापक अपनी अकार्यकुशलता से अपने को लड़कों का उपहासास्पद बना लेते हैं, कई लड़कों की प्रतिष्ठा के केन्द्र बन जाते हैं। बालकों द्वारा ही अध्यापक तथा माता पिता का परिचय होता है। अगर अध्यापक बालकों को ठीक तरह से प्रभावित कर सकेगा तो उसे बालकों की प्रेरणा से स्वयं माता-पिता का सहयोग प्राप्त होगा। इसके अतिरिक्त जब माता-पिता मिलने आयें तब उनसे सहानुभूति से मिलना माता पिता के सहयोग का सबसे बड़ा साधन है।

छात्रावास का प्रबन्ध (Hostels)—

प्राचीन-काल में तो सब विद्यार्थी छात्रावासों में ही रहते थे, इन्हें 'गुरुकुल' कहा जाता था। आज विद्यार्थी घरों में रहते हैं, बाजारों के वातावरण में उनके संस्कार दूषित हो जाते हैं। अच्छी शिक्षा के लिये छात्रावासों का होना आवश्यक है, परन्तु 'छात्रावास' बना देना ही पर्याप्त नहीं है, उन्हें ठीक से चलाना और भी ज्यादा आवश्यक है। छात्रावासों की आम शिकायत रहती है कि वहां सफाई नहीं रहती, भोजन अच्छा नहीं मिलता, संगत बुरी होती है। इन्हीं को दूर करने के लिये तो 'छात्रावास' बनाये जाते हैं, केवल छात्रों की सुविधा के लिये नहीं बनाये जाते। अभिभावक का कर्तव्य है कि स्वयं सारी सफाई देखे—कहीं जाले तो नहीं, कहीं मकान पर घास-फूस तो नहीं उगने लगा, टट्टियां साफ हैं या नहीं? भोजन का प्रबन्ध लड़कों के हाथ में ही दे देने से भोजन की समस्या बहुत-कुछ हल हो जाती है। बुरी संगत से बच्चों को बचाना बहुत आवश्यक है। बाहर के किसी व्यक्ति को छात्रावास में कभी नहीं रहने देना चाहिये, भले ही वह उसी स्कूल का छात्र रहा हो, किसी का मित्र हो, सगा-सम्बन्धी हो, नाही विद्यार्थियों को रात को बाहर रहने की आज्ञा देनी चाहिये। 'छात्रावास' के बालकों को कभी रातों पर, कभी सिनेमा में, कभी बाजार में जाने की आज्ञा देना 'छात्रावास' को बिगाड़ देना है। इस दृष्टि से गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली की तरफ अभी हमारी सरकार का ध्यान जाने की आवश्यकता है।

६

शिक्षा के आधार-भूत सूत्र

(MAXIMS OF METHODS)

बालकों को क्या शिक्षा दी जाय, यह तो राज-शक्ति के आधीन है। जैसी शिक्षा देश के कर्णधार लोग देना चाहेंगे शिक्षक को वैसी ही शिक्षा बालकों को देनी होगी। हाँ, उस शिक्षा को किस प्रकार बालकों के हृदय तथा मस्तिष्क में बैठा दिया जाय, यह कार्य शिक्षक कर सकता है। इस सम्बन्ध में शिक्षा-मनोविज्ञान को आधार बनाकर शिक्षा-शास्त्रियों ने कुछ सूत्र, कुछ नियम बनाये हैं जिनके अनुसार पढ़ाने से बालक प्रत्येक विषय को आसानी से समझ सकता है। ये सूत्र निम्न लिखित हैं—

१. विश्लेषण से संश्लेषण की तरफ जाओ (From Analysis to Synthesis)
२. अवयवी से अवयव की तरफ जाओ (From Whole to Part)
३. तार्किक क्रम की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक-क्रम की तरफ जाओ (From Psychological to Logical order)
४. विशेष से सामान्य की तरफ जाओ (From Particular to General)
५. स्थूल से सूक्ष्म की तरफ जाओ (From Concrete to Abstract)
६. ज्ञात से अज्ञात की तरफ जाओ (From Known to Unknown)
७. सरल से क्लिष्ट की तरफ जाओ (From Simple to Complex)

८. अनिश्चित से निश्चित की तरफ आओ (Indefinite to Definite)
६. परीक्षणों से परिणामों की तरफ आओ (Empirical to Rational)

विश्लेषण से संश्लेषण की तरफ—

प्राय. समझा जाता है कि हमारा ज्ञान भिन्न-भिन्न अवयवों से मिल कर बनता है। पेड़ के ज्ञान का अभिप्राय है, टहनियों, पत्तों, फूलों तथा फलों का अलग-अलग ज्ञान। परन्तु बालक का ज्ञान इस प्रकार किसी वस्तु के अलग-अलग अंगों से मिलकर नहीं बनता। वह वृक्ष को देखता है, और टहनियों, पत्तों, फूलों, फलों वाली जो चीज़ सामने खड़ी है उस सम्पूर्ण वस्तु को वृक्ष कहता है। वृक्ष के भिन्न भिन्न अंगों का ज्ञान तो उसे बाद में होता है। परन्तु ज्ञान का असली रूप तो तभी प्रकट होता है जब किसी वस्तु के सब अंगों का अलग-अलग ज्ञान हो, उन अंगों के परस्पर सम्बन्ध का भी ज्ञान हो। क्योंकि शुरु शुरु में बालक को यह ज्ञान नहीं होता इसलिए उसका ज्ञान अस्पष्ट, अनिश्चित तथा असम्बद्ध होता है। शिक्षक का काम बालक के ज्ञान को स्पष्ट, निश्चित तथा सम्बद्ध बनाना है। इसका क्या उपाय है? इसका उपाय यह है कि बालक को वृक्ष का 'विश्लेषण' करके बतलाया जाय, और विश्लेषण करने के बाद उसके सम्मुख उन्हीं अंगों का 'संश्लेषण' करके वृक्ष को खड़ा कर दिया जाय। इस प्रकार 'विश्लेषण' होने के बाद जब 'संश्लेषण' होता है तब बालक का ज्ञान स्पष्ट, निश्चित तथा सम्बद्ध हो जाता है। अगर किसी ने वृक्ष की ओर संकेत करके उसे बता दिया है कि यह आम का पेड़ है, तो वह हरेक पेड़ को आम का ही पेड़ समझता है। यह इसलिए कि क्योंकि हरेक पेड़ की आकृति लगभग एक सी होती है। इसी अस्पष्टता को दूर करने के लिए आवश्यक है कि आम के पेड़ के सम्बन्ध में उसके ज्ञान का उसके समुख विश्लेषण किया

जाय। जब बालक विश्लेषण करके पता लगायेगा कि आम के पेड़ पर तो आँबिया आती हैं, शीशम के पेड़ पर नहीं, तब वह शीशम के पेड़ को आम का पेड़ नहीं कहेगा, और तब उसके ज्ञान में अनिश्चितता और अस्पष्टता भी नहीं रहेगी। 'विश्लेषण' से 'संश्लेषण' करके किसी वस्तु के यथार्थ रूप को प्रकट कर देने से बालक को उस वस्तु के भिन्न भिन्न अंगों, अवयवों का आपस का सम्बन्ध भी मालूम हो जाता है इसलिये उसका ज्ञान असम्बद्ध, बेमेल भी नहीं रहता।

'अवयवी' से 'अवयव' की तरफ—

हमने अभी कहा था कि बालक का जो ज्ञान होता है वह अवयवी का होता है, अवयव का नहीं। मनोविज्ञान की परिभाषा में इस सिद्धांत को 'अवयवी वाद' (Gestalt theory) कहते हैं। बालक जब किसी चीज को देखता है तब वह वस्तु अपने सम्पूर्ण रूप में उसके सामने आती है, अपने भिन्न भिन्न अंगों के रूप में नहीं। 'अवयवी' का बालक को ज्ञान होता है अत. 'अवयवी' से ही उसे समझाना शुरू करना चाहिये, और 'अवयवी' (Whole) से प्रारम्भ करके 'अवयव' (Part) की तरफ आना चाहिये। इसी सिद्धान्त के आधार पर आजकल पहले 'शब्दों' का ज्ञान कराया जाता है, फिर अक्षरों का। इस सिद्धात का यह अर्थ नहीं है कि भूगोल पढ़ाते हुए 'पृथिवी' के ज्ञान से पढ़ाई शुरू करनी चाहिये, अपने देश या गाव से नहीं। इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि बालक जिस 'अवयवी' (Whole) को जानता है उससे पढ़ाई शुरु करनी चाहिये, और क्योंकि इस दृष्टांत में बालक के लिये पृथिवी 'अवयवी' नहीं है, अपितु उसके इर्द गिर्द जो भू-भाग है वही उसका 'अवयवी' है, अत. उसीसे उसे भूगोल का ज्ञान शुरू कराना चाहिए।

'तार्किक-क्रम' की अपेक्षा 'मनोवैज्ञानिक क्रम' की तरफ—

हम बच्चों को पढ़ना सिखाते हैं। पहले अ-आ इ ई सिखाया जाय, या पहले 'आम' पढ़ना सिखा दिया जाय, और फिर 'शब्द ज्ञान' के बाद 'अक्षर-ज्ञान' सिखाया जाय ? हमने अभी कहा था कि 'अवयवी' से 'अवयव' की तरफ आना चाहिये क्योंकि 'अवयवी' को बालक जानता है, 'अवयव' को नहीं जानता। इसीलिये हमने यह भी कहा था कि पहले 'शब्द' सिखाने चाहिये, पीछे 'अक्षर'। इसी भाव को दूसरे शब्दों में यह कह कर प्रकट किया जाता है कि बच्चों की शिक्षा मनोवैज्ञानिक-क्रम (Psychological order) से चलनी चाहिये, तार्किक (Logical order) से नहीं। तार्किक दृष्टि से तो अक्षरों से शब्द बनते हैं, अतः अक्षर पहले सिखाने चाहियें। परन्तु नहीं, सिखाने में हमें तार्किक क्रम को सम्मुख नहीं रखना, यह देखना है कि बालक के ज्ञान ग्रहण का मनोवैज्ञानिक क्रम क्या है। इतिहास पढ़ाते हुए तार्किक क्रम तो यह है कि संसार के प्रारंभ से इतिहास पढ़ाना शुरू किया जाय, परन्तु बालक को संसार के प्रारंभ में क्या रुचि हो सकती है ? बालक तो यह जानना चाहता है कि अपने देश में क्या हो रहा है ? कौन प्रधान मन्त्री है, कैसा विधान बन रहा है, चुनाव कैसे होता है ? इसलिये संसार के प्रारंभ से इतिहास पढ़ाना शुरू करने के स्थान में अपने देश का इतिहास पहले पढ़ाना ही मनोवैज्ञानिक क्रम है।

'विशेष' से 'सामान्य' की तरफ—

हमारा सम्पूर्ण ज्ञान सामान्य का ही ज्ञान है। हम देवदत्त, यज्ञदत्त, ब्रह्मदत्त को देख कर 'मनुष्य' के ज्ञान पर पहुँचते हैं, अगर हमें देवदत्त, यज्ञदत्त, ब्रह्मदत्त का ही ज्ञान हो, 'मनुष्य' का ज्ञान न हो, तो हम भवदत्त के सामने आने पर यह न समझ

सकें कि यह क्या चीज़ है। यज्ञदत्त आदि कई 'विशेष' रूपों को देख कर हम जान जाते हैं कि ऐसे ही व्यक्ति को 'मनुष्य' कहा जाता है, और जब वैसा कोई व्यक्ति दिखाई देता है तो हम झट से उसे भी 'मनुष्य' कह देते हैं। 'मनुष्य'—इस 'सामान्य' विचार तक पहुँचने के लिये अनेक 'विशेष' मनुष्यों को देखना आवश्यक है। आम का पेड़, शीशम का पेड़, वट का पेड़—इन 'विशेष' पेड़ों को देखकर पेड़ का 'सामान्य'-ज्ञान होता है। पढ़ाने का नियम यही है कि बच्चों को भिन्न-भिन्न चीज़ें दिखाकर, भिन्न भिन्न उदाहरण देकर एक 'सामान्य' नियम का ज्ञान करा दिया जाय, और 'सामान्य'-नियम को फिर भिन्न-भिन्न स्थानों पर घटा कर भी दिखा दिया जाय। केवल 'सामान्य'-नियम का ज्ञान करा देना पर्याप्त नहीं है, उसे घटा कर दिखाना उससे भी ज़्यादा आवश्यक है, क्योंकि जब बालक 'विशेष' से 'सामान्य' तक पहुँच जाता है, तब उस 'सामान्य' को फिर अन्य 'विशेषों' पर घटा कर अपने ज्ञान को अधिक परिपक्व बना लेता है।

'स्थूल' से 'सूक्ष्म' की तरफ़—

हम स्थूल बात को आसानी से समझते हैं, सूक्ष्म को कठिनता से। राजा हरिश्चन्द्र ने अपना वचन निबाहने के लिये अपने को बेच दिया—यह किस बालक को समझ में नहीं आता। अगर हरिश्चन्द्र की कथा सुनाये बिना बालकों को इतना ही कहा जाय कि 'सत्य' के लिये सब-कुछ करना चाहिये, तो वे कुछ नहीं समझेंगे। जो व्याख्याता कथा-कहानी सुनाता है उस की बात से कोई ऊबता नहीं, जो सिर्फ़ फ़िलासफ़ी छाँटता है उसके व्याख्यान में आधे से अधिक उठ जाते हैं। कथा-कहानी सुनाकर उसे किसी सूक्ष्म सत्य पर घटाया जाय, तो सब बड़े प्रसन्न होते हैं, इसके बिना सूक्ष्म-सत्यों के निरूपण को नीरस

कहा जाता है। उपनिषदों की वर्णन-शैली 'स्थूल' से 'सूक्ष्म' की तरफ चलती है। कहां 'ब्रह्म' का निरूपण और कहां कथा-कहानी, परन्तु उपनिषदों के ऋषियों ने कथा-कहानी से ही ब्रह्म-ज्ञान को रोचक बना दिया है। जब बड़ों के लिये उदाहरण, दृष्टान्त, किस्से आवश्यक हैं, जब वे स्थूल के बिना सूक्ष्म की तरफ नहीं जा सकते, तब बच्चों का तो कहना ही क्या है ?

'विशेष से सामान्य' तथा 'स्थूल से सूक्ष्म'—इन दोनों सूत्रों में भेद यह है कि 'विशेष से सामान्य' में तो हम एक 'नियम' का पता लगाते हैं, 'स्थूल से सूक्ष्म' में यह आवश्यक नहीं कि 'नियम' का ही पता लगाया जाय। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, दया, परोपकार आदि सूक्ष्म 'विचार' हैं, जो 'विशेष से सामान्य' द्वारा नहीं परन्तु 'स्थूल से सूक्ष्म' की तरफ चलने से प्राप्त होते हैं।

'ज्ञात' से 'अज्ञात' की तरफ—

जो बात बालक के लिए बिल्कुल नई है उसे वह समझ नहीं सकता, समझने के लिए आवश्यक है कि वह बात उसके पहले प्राप्त किए हुए ज्ञान से मिलती-जुलती हो। पहला प्राप्त किया हुआ ज्ञान ही नए ज्ञान को प्राप्त करने में सहायक होता है। पंडित के लिए वेद के मन्त्रों का कुछ अर्थ हो सकता है, एक जुलाहे के आगे वेद-मन्त्रों की व्याख्या करने वाला ही मूर्ख कहाता है।

बालक का यह स्वभाव है कि वह बिल्कुल नई वस्तु को ग्रहण नहीं करता, इसलिए उसे जो कुछ सिखाया जाय वह उसके लिए बिल्कुल नया नहीं होना चाहिए, साथ ही बालक अत्यन्त परिचित वस्तु को भी बार-बार नहीं सुनना चाहता, इसलिए जो कुछ पढ़ाया जाय उसमें नवीनता का अंश होना भी आवश्यक है। 'ज्ञात' से 'अज्ञात' की तरफ जाने का यह अर्थ नहीं है कि अध्यापक अपने विषय में नवीनता का संचार न करे। नवीनता

ही तो बालक की रुचि उत्पन्न करती है, नवीन बात को जानने के लिए ही तो बालक उत्सुक रहा करता है, अतः 'ज्ञात' से 'अज्ञात' की तरफ जाते हुए जहाँ एकदम 'अज्ञात' से प्रारम्भ नहीं करना चाहिए वहाँ 'नवीनता' को भी ध्यान में रखना चाहिये।

'सरल' से 'विषम' की तरफ—

जो बातें एकदम समझ में आ जाँय वे सरल हैं, जिन्हें समझने में देर लगे वे विषम हैं। 'सरल' से ही 'विषम' को समझा जा सकता है। जो शिक्षक छोटी-छोटी बातें समझा कर आगे बढ़ता है, वह कठिन-से-कठिन बातों को समझा लेता है। सब से मुख्य बात यह है कि बालक को जो कुछ पढ़ाया जाय वह उसे समझ जाय। जब बालक किसी बात को समझ जाता है तब उसमें आत्म-गौरव की भावना उत्पन्न होती है, उत्साह होता है, आगे पढ़ने में रुचि होती है, और वह आगे बढ़ने लगता है। जब उसे कुछ समझ नहीं पड़ता तब वह हिम्मत ही हार बैठता है, और पढ़ाई में पछड़ने लगता है।

हाँ, अध्यापक के लिए यह ध्यान रखना आवश्यक है कि जो उसके लिए सरल है वह बालक के लिए विषम हो सकता है। 'सरल' से 'विषम' की तरफ जाने का अर्थ यह नहीं है कि अध्यापक जिसे सरल समझे वह सरल है, जिसे विषम समझे वह विषम है, सरल और विषम बालक की दृष्टि से होता है, और बालक के लिये भी एक आयु में जो विषम है वह दूसरी आयु में सरल हो जाता है।

'अनिश्चित' से 'निश्चित' की तरफ—

बालक का मानसिक विकास किस प्रकार होता है? पहले उसका सम्पूर्ण ज्ञान अनिश्चित-सा होता है, फिर धीरे-धीरे निश्चित होता चला जाता है। गणित की सख्या से वह यही

समझता है कि कोई 'बहुत बड़ी संख्या' है, भूगोल का ज्ञान उसका अपने इर्द-गिर्द के इलाके के अनिश्चित से ज्ञान के रूप में होता है। मद्रास के लोगों से जब कहा जाता है कि हम देहरादून से आ रहे हैं तो वे कहते हैं, वही देहरादून जो लाहौर के आस-पास है? शिक्षक का काम इस 'अनिश्चित' को हाथ में लेकर एक चतुर कला-विज्ञ की तरह 'निश्चित' का निर्माण करना है।

'परीक्षणों' से 'परिणामों' की तरफ—

प्रायः देखा जाता है कि पानी के जो नलके जमीन में गड़े नहीं रहते वे भयङ्कर सर्दी पड़ने पर फट जाते हैं। यह एक घटना है, इसे देखकर बालक स्वाभाविक तौर पर जानना चाहता है कि ऐसा क्यों होता है। ढूंढते-ढूंढते वह जान जाता है कि पानी जम कर फैलता है। क्योंकि नलका सब तरफ से बन्द है, अन्दर का पानी जम कर फैल गया है, अन्दर फैलने को जगह नहीं थी, अतः नलका फट गया है। इस प्रकार संसार में हो रही घटनाओं को देख कर या स्वयं परीक्षण करके बालक जब किसी परिणाम पर पहुँचता है तब वह उस विषय के ज्ञान को पा लेता है। शिक्षक का कर्तव्य है कि वह बालकों को परीक्षण करने में प्रोत्साहित करे ताकि वे स्वयं परिणाम निकाल सकें।

७

आगमन तथा निगमन पद्धति

(INDUCTIVE AND DEDUCTIVE METHOD)

पिछले अध्याय मे हम शिक्षा के जिन आधार भूत सूत्रों का वर्णन कर आये हैं, उन्हे 'आगमन' तथा 'निगमन'—इन दो में विभक्त किया जा सकता है। क्योंकि उन सब का इन दोनों से सम्बन्ध है अत इस अध्याय मे हम इन दोनों का वर्णन करेंगे।

मनुष्य किसी विचार पर दो मार्गों से पहुँच सकता है। एक मार्ग तो यह है कि कोई दूसरा हमें रास्ता बता दे, दूसरा यह है कि हम खुद ही रास्ते का पता लगायें। उदाहरणार्थ, हम भाषा सीखना चाहते हैं। एक उपाय यह है कि भाषा का व्याकरण हमें पढ़ा दिया जाय, भाषा के नियम हमें बता दिये जॉय, और ज्यों ज्यों हम भाषा सीखते जॉय, उन नियमों को घटा कर देखते जॉय। दूसरा उपाय यह है कि हम छोटे-छोटे वाक्यों की परस्पर तुलना कर भाषा के नियमों का स्वय पता लगायें। पहला 'निगमन' (Deduction) का मार्ग है, दूसरा 'आगमन' (Induction) का मार्ग है। भूगोल पढ़ते हुए एक उपाय यह है कि हमारे हाथ में पाठ्य पुस्तक दे दी जाती है, उसमें ध्रुवों, सूर्य, मध्य-रेखा आदि के लक्षण दिये गये हैं, हम उन्हे स्मरण कर लेते हैं, और उनके बाद पृथिवी के भिन्न भिन्न भागों का अध्य-

यन करते हैं, एशिया, योरुप आदि का भूगोल पढ़ते हैं। दूसरा उपाय यह है कि जिस परिस्थिति का हमारे साथ निकटतम सम्पर्क है उसका हमें ज्ञान करा दिया जाता है हमें अपने गांव का फिर जिले का, फिर प्रान्त का, फिर देश का, फिर एशिया का, फिर योरुप का, और फिर भू मंडल का ज्ञान कराया जाता है। पहला 'निगमन' (Deduction) का मार्ग है, दूसरा 'आगमन' (Induction) का मार्ग है। बालक को पढ़ना-लिखना सिखाते हुए एक उपाय यह है कि पहले अक्षर सिखा दिये जांय; फिर उन्हें मिलाना सिखाया जाय, फिर शब्द और फिर वाक्य सिखाये जांय, दूसरा उपाय यह है कि बालक जिन वाक्यों को बोलता ही रहता है उन वाक्यों से ही पढ़ाना शुरु किया जाय, वाक्यों से शब्द, शब्दों से अक्षर सिखाये जांय। पहला 'निगमन' (Deduction) का मार्ग है; दूसरा 'आगमन' (Induction) का मार्ग है। ज्यामिति पढ़ाते हुए परिभाषाएं याद करायी जा सकती हैं, या पहले उदाहरण देकर परिभाषाएं बनवायी जा सकती हैं; रसायन शास्त्र आदि सब विज्ञानों में या अध्यापक पहले सब कुछ बता दे, या विद्यार्थी से परीक्षण करा कर जो कुछ बताना है उसी से निकलवाये। विचार तक पहुँचने के ये दो ही मार्ग हैं, और इन दोनों को तर्क-शास्त्र में 'निगमन-शास्त्र' (Deductive Logic) तथा 'आगमन शास्त्र' (Inductive Logic) कहते हैं।

'निगमन-पद्धति' (Deductive Method)—

'निगमन'-पद्धति में नियम पहले बता दिया जाता है। नियम को संस्कृत में, 'व्याप्ति' कहते हैं; अतः 'निगमन'-पद्धति को 'व्याप्ति-पूर्वक अनुमान' कहा जाता है। 'निगमन' में विचार निम्न तीन क्रमों में से गुजरता है:—

(१) पहले तो हमारे सामने जो 'प्रश्न' है उसे हमें ठीक तौर पर समझ लेना चाहिये। हम क्या जानना चाहते हैं, कौन सी समस्या हल करना चाहते हैं। उदाहरणार्थ, हम जानना चाहते हैं कि पहाड़ पर आग लगी हुई है, या नहीं ?

(२) इस प्रकार समस्या के स्पष्ट हो जाने पर हम देखना चाहते हैं कि इस समस्या पर कौन-सा 'नियम' लागू होगा। हम जानते हैं, 'जहाँ जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ आग होती है।' यह एक नियम है, एक सत्य है, एक सिद्धान्त है। हमारे सामने जो समस्या है वह इस नियम से हल होने वाली है।

(३) इस नियम को लेकर हम पहाड़ के विषय में 'अनुमान' कर लेते हैं कि क्योंकि जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ वहाँ आग होती है, पहाड़ पर धुआँ दीख रहा है, अत वहाँ भी आग अवश्य होगी। 'निगमन' में यह तीसरा क्रम है। इन तीनों को क्रमश. 'समस्या' (Problem), 'नियम' (Generalisation) तथा 'अनुमान' (Inference) कहते हैं।

'आगमन-पद्धति' (Inductive Method)—

'आगमन-पद्धति' में दृष्टान्त पहले बताये जाते हैं, अत. संस्कृत में इस पद्धति को 'दृष्टान्त पूर्वक अनुमान' कहा जाता है। 'निगमन' की तरह 'आगमन' में भी विचार तीन क्रमों में से गुजरता है :—

(१) जिस नियम को बताना हो उसे सीधा न बताकर, अपने मन में ही रखकर, शिक्षक पहले अनेक उदाहरण बतलाता जाता है। अध्यापक ने बालकों को यह बतलाना है कि 'जहाँ जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ आग अवश्य होती है', परन्तु वह उन्हें सीधे तौर पर यह नहीं बताता। इस विचार को वो वह मन में रखता है, और उन्हें बतलाता है कि देखो, रसोई में धुआँ होता

है, वहाँ आग भी होती है, इंजिन से धुआँ निकलता है, वहाँ भी आग होती है; सिगरेट से धुआँ निकलता है, वहाँ भी आग है, ईंट के भट्टे से धुआँ निकलता है, वहां भी आग है।

(२) इतने दृष्टान्त, उदाहरण, देकर वह बालकों से कहता है कि इन सब जगह तुम क्या नियम देख रहे हो? वे अपने-आप कह उठते हैं कि इन सब स्थानों को देखकर हम समझते हैं कि 'जहाँ-जहाँ धुआँ निकलता है, वहाँ वहाँ आग अवश्य होती है।'

(३) फिर वह इस नियम को मौजूदा समस्या पर घटाता है। हमारे सामने समस्या यह है कि पहाड़ पर धुआँ दिखाई दे रहा है। हम जानना चाहते हैं कि वहाँ धुआँ क्यों है? बालकों ने जिस नियम को 'आगमन-पद्धति' से स्वयं निकाला है उसे वे वर्तमान समस्या पर घटाकर स्वयं परिणाम निकाल लेते हैं कि क्योंकि जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ वहाँ आग होती है, पहाड़ पर भी धुआँ दिखाई दे रहा है, इसलिए पहाड़ पर आग अवश्य है।

'निगमन' तथा 'आगमन' में भेद —

(1) 'निगमन' (Deduction) में सीधा नियम बता दिया जाता है, 'आगमन' (Induction) में बालक स्वयं नियम को निकालते हैं; (2) 'निगमन' में अपने ज्ञान को हम एक नई जगह पर घटाते हैं, 'आगमन' में हमें नया ज्ञान मिलता है; (3) 'निगमन' में नियम पहले ही निकला होता है, (4) 'आगमन' में नियम बाद को निकलता है; (4) 'निगमन' में हम नियम के लिए दूसरों पर आश्रित हैं, 'आगमन' में हम स्वयं अनुसंधान करते हैं; (5) 'निगमन' बड़ों का तरीका है, 'आगमन' छोटों का तरीका है; (6) 'निगमन' में प्रायः सारा काम अध्यापक को करना होता है, 'आगमन' में प्रायः सारा काम विद्यार्थी को करना होता है।

आगमन-निगमन पद्धति (Inductive-Deductive Method)—

ऊपर जो कुछ कहा गया है इस से स्पष्ट हो गया होगा कि शिक्षा में इन दोनों पद्धतियों का सम्मिश्रण करने से ही काम चल सकता है। छोटे बालकों को उदाहरण दे देकर समझाना ही ठीक रहता है, परन्तु जो बालक ऊंची श्रेणियों में पहुंच चुके हैं उनका समय बार-बार उदाहरण देकर नष्ट करना ठीक नहीं। बच्चों के लिए 'आगमन पद्धति' (Inductive Method) तथा बड़ों के लिए 'निगमन पद्धति' (Deductive Method) ही ठीक है।

१९वीं शताब्दी में जर्मनी में हर्बार्ट नामक शिक्षा शास्त्री हुआ जिसने शिक्षा के क्षेत्र में आगमन तथा निगमन पद्धति का मेल कर दिया और बालक की शिक्षा के 'पञ्च सोपान' (Five Steps of Herbart) का प्रतिपादन किया। इनका वर्णन हम पहले कर आये हैं। भारत के तर्क-शास्त्रियों ने भी इन्हीं पाँच का बहुत पहले वर्णन किया था। इन्हें वे प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन कहते थे। हर्बार्ट के 'पञ्च सोपान' तथा तर्क शास्त्र के 'पञ्चावयव' निम्न लिखित हैं :—

प्रतिज्ञा—Preparation

हेतु
उदाहरण } — Presentation

उपनय — Comparison and Generalisation

निगमन—Application

८

स्वयं-ज्ञान पद्धति

(HEURISTIC METHOD)

हमने पिछले अध्याय में कहा था कि 'आगमन-पद्धति' (Inductive Method) का अर्थ यह है कि बालक अपने आप नियम निकाले। इसी अपने आप ज्ञान प्राप्त करने की भावना को आधार बनाकर आर्मस्ट्रॉंग ने एक विशेष पद्धति को जन्म दिया है जिसे 'ह्यूरिस्टिक-मैथड' या 'स्वयं-ज्ञान-पद्धति' कहा जाता है। ग्रीक भाषा में 'ह्यूरिस्को' शब्द का अर्थ है—'मैं मालूम करता हूँ', इसी से 'ह्यूरिस्टिक' शब्द बना है। 'ह्यूरिस्टिक' पद्धति के अनुयायियों का कथन है कि बालक की शिक्षा में दो बातों का ध्यान रखना चाहिये। पहली यह कि बालक हरेक बात को स्वयं मालूम करे, दूसरी यह कि संसार ने जिस क्रम से जिस बात को जाना है उसी क्रम से ज्ञान प्राप्त करे।

(१) इस पद्धति के पुष्ट पोषक पहली बात यह कहते हैं कि बालक को इस प्रकार की परिस्थिति से घेर देना चाहिये जिससे स्वयं अन्वेषण कर सके, विज्ञान की हर बात को स्वयं मालूम

कर सके, अध्यापक की तरफ से उसे कुछ बताना न पड़े। जब कोई बालक किसी सिद्धान्त का स्वयं पता लगाता है तब उसमें एक अदम्य उत्साह भर जाता है, उसकी शक्ति का कोई ठिकाना नहीं रहता, सीखने में जो विघ्न-बाधाएं हैं वे एकदम समाप्त हो जाती हैं।

(२) दूसरी बात वे यह कहते हैं कि बालक को पढ़ाते हुए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसे पहले वे ही विषय पढ़ाये जाँय जो मनुष्य के विकास में पहले थे, वे पीछे पढ़ाए जाँय जो उसके विकास में पीछे आये। इसी प्रकार बालक किसी बात को ठीक समझ सकता है, और इसी प्रकार वह उसका स्वयं ज्ञान प्राप्त कर सकता है। उनका यह कथन विकास-वाद के आधार पर है। विकासवादियों का कथन है कि प्राणी पिछली पीढ़ियों में जिन जिन अवस्थाओं में से गुज़रा है, वे सब इस जन्म में कुछ-कुछ देर के लिए बचपन में प्रकट होती हैं, और उनमें से गुजर कर ही हम बड़े होते हैं। गर्भावस्था में शिशु भिन्न भिन्न शक्लों में से गुजरता है जो लगभग पशुओं से मिलती-जुलती हैं। गर्भस्थ शिशु की मछली, मेंढक, कुत्ता आदि की शक्लें बनती हैं। इस सिद्धांत को 'पुनरावृत्ति' (Recapitulation) का सिद्धांत कहा जाता है। इस पीढ़ी में पिछली सब पीढ़ियों का मानो संक्षिप्त 'उपसंहार', उनकी संक्षिप्त 'पुनरावृत्ति' हो जाती है। अगर शरीर के विकास में इस प्रकार की 'पुनरावृत्ति' होती है, तो मन के विषय में भी ऐसी 'पुनरावृत्ति' मानना असंगत नहीं है। इसी सिद्धान्त को शिक्षा के क्षेत्र में घटाते हुए 'ह्यूरिस्टिक पद्धति' के समर्थकों का कथन है कि बालक को उसी क्रम से सिखाना चाहिए जिस क्रम से जाति ने सीखा है। इसी सिद्धांत को 'कल्चर ईपक थियोरी' (Culture Epoch Theory) कहा जाता है।

जाति अपने विकास में सभ्यता के जिन युगों में से निकली है बालक संक्षिप्त तौर पर उन्हीं युगों में से गुजरता है। इस सिद्धान्त के अनुसार पहले किस्से-कहानियों, फिर साहित्य, और फिर विज्ञान का जाति ने विकास किया, बालक भी इसी क्रम में से गुजर कर सुगमता से ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इस विचार-प्रक्रिया का हर्बार्ट ने प्रतिपादन किया। इसी विचार को आधार बनाकर ह्यूरिस्टिक पद्धति के समर्थक आर्मस्ट्रॉग का कथन था कि विद्यार्थी को उस सब प्रकिया में से गुजरना चाहिये जिसमें से गुजरते-गुजरते पिछले विचारकों ने किसी नियम का आविष्कार किया था, बालक को आविष्कारक की मानसिक-प्रक्रिया में से गुजार देना चाहिये।

'स्वयं ज्ञान पद्धति' का वर्तमान शिक्षा पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ रहा है। गणित में पहाड़े रटाने के स्थान में बालकों से पहाड़े बनवाये जाते हैं। वे 'दो अट्ठे सोलह'- याद करने के स्थान में दो को आठ बार जोड़ते हैं, और इस प्रकार स्वयं पता लगाते हैं कि दो अट्ठे सोलह क्यों, और कैसे होते हैं। इस प्रकार जिस बात को वे स्वयं कर के देख लेते हैं उसका उनके मस्तिष्क पर स्थायी प्रभाव तो पड़ ही जाता है, साथ ही जिस बात का वे पता लगाते हैं उसका कारण भी जान जाते हैं। कार्य-कारण-भाव जान कर जो बात दिमाग में बैठती है वह मस्तिष्क के सम-विकास के लिये ठीक भी है।

परन्तु इस पद्धति पर बहुत अधिक बल देना ठीक नहीं। हर विद्यार्थी हर बात का स्वय नहीं मालूम कर सकता। कोई कोई प्रतिभाशाली विद्यार्थी ही आविष्कारक की स्थिति में आ सकता है। अनेक बातें विद्यार्थी को बतानी ही पड़ती हैं, नहीं तो समस्याओं का स्वय हल ढूंढता ढूंढता वह गलत हल भी निकाल लेता

है, और ज्ञान बढ़ाने के स्थान में ग़लत ज्ञान में भी उलझ सकता है। साथ ही प्रत्येक विद्यार्थी के पास इतना समय भी नहीं है कि वह हर बात का स्वयं ही पता लगाता रहे। अगर स्वयं ही पता लगाना है तो पिछलों का पता लगाना ही बेकार हो जाता है। हाँ, इस पद्धति का इतना ही अर्थ है कि विद्यार्थी को स्वयं ज्ञान प्राप्त करने में उत्तेजित किया जाय, और सब कुछ शिक्षक की तरफ से ही उसके मन में न भर दिया जाय।

६

निरीक्षण तथा सरस्वती यात्राएं

(OBSERVATION AND EXCURSIONS)

हमने देखा कि विद्या-प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन अपने-आप किसी बात का पता लगाना है, गुरु मुख से सुनकर याद कर लेना ही नहीं। प्राचीन तथा नवीन शिक्षा-प्रणाली में यह आधार-भूत भेद है। अगर विद्यार्थी ने हर बात का अपने आप पता लगाना है, तो उस के दो ही प्रकार हो सकते हैं। पहला तो यह कि वह हरेक बात का निरीक्षण करे, उसे देखे, उसे समझे; दूसरा यह कि वह अपने निवास के आस-पास घूमे फिरे, और हरेक वस्तु को जिसे वह न जानता हो, जाँच-पड़ताल करे, धन और समय हो तो सरस्वती की आराधना के लिए दूर-दूर की यात्राएं करे, हो सके तो विदेश में जाकर अपनी आँखों से हर बात को देख कर ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करे। इस दृष्टि से 'निरीक्षण' तथा 'सरस्वती यात्राएं' भी विद्या प्राप्त करने की विधियां ही हैं।

१—निरीक्षण

'निरीक्षण' (Observation) क्या है? बालक हाथी को आते हुए देखता है, उसने हाथी पहले कभी नहीं देखा, जैसा देखा

है। वह एकदम चिल्ला उठता है, देखो कितना बड़ा भैंसा आ रहा है। परन्तु फिर कहता है, इसके सींग तो हैं ही नहीं। पहले उसने 'समानता' देखी, फिर 'भिन्नता' भी देख ली। वह कहता है, मैंने जो काला काला भैंसा देखा था, उससे यह मिलता है, पर उसके सींग थे, इसके सींग नहीं, इसलिये उस से नहीं मिलता। अपने पूर्व अनुभव के साथ 'समानता' (Similarity) तथा 'भिन्नता' (Dissimilarity) को देख लेना 'निरीक्षण' के कारण होता है। जब बालक ने हाथी और भैंस के भेद का पता लगा लिया, यह देख लिया कि इस के तो सूंड है, भैंसे की सूंड नहीं, इस के तो सींग नहीं, भैंसे के सींग हैं, यह तो बहुत बड़ा है, भैंसा तो इससे बहुत छोटा होता है—तब हाथी और भैंसे की 'विभिन्नता' को वह जान जाता है। इसी को 'विश्लेषण' (Analysis) कहते हैं। 'विश्लेषण' के बाद सब 'विभिन्नताओं' का वह 'संश्लेषण' (Synthesis) कर लेता है, सब 'विभिन्नताओं' को इकट्ठा कर लेता है। विचार की इसी प्रक्रिया को 'निरीक्षण' (Observation) कहा जाता है।

'निरीक्षण' तीन प्रकार का है: 'प्रयोजन पूर्ण' (Purposeful), 'प्रयोजन-रहित' (Non-Purposive) तथा 'प्रयोजन-प्रेरक' (Purposive)। 'प्रयोजन पूर्ण' निरीक्षण तब होता है जब हमें मालूम हो कि हम किस प्रयोजन से निरीक्षण कर रहे हैं। हम जड़ी-बूटियों का ज्ञान प्राप्त करने जंगल से निकले, यह 'प्रयोजन-पूर्ण' निरीक्षण है। हम व्याख्यान सुन रहे हैं, इतने में एक मोटर गुजरी, सब उधर देखने लगे, यह 'प्रयोजन रहित' निरीक्षण है। हम जंगल में जड़ी-बूटियाँ खोज रहे हैं, इतने में एक हरिण निकल आया, विद्यार्थियों को हरिण के सम्बन्ध में जानने की उत्कट इच्छा हो गई, सब उधर देखने लगे, अध्यापक ने भी यह देखकर

कि इनकी इस समय की जागृत जिज्ञासा का लाभ उठाना चाहिए, उन्हें हरिण के सम्बन्ध में अनेक बातें बतला दीं। यह 'प्रयोजन-प्रेरक' निरीक्षण है। निरीक्षण का मुख्य प्रयोजन यह नहीं था, बीच में आ पड़ा, परन्तु आ पड़ने पर भी ज्ञान में कुछ वृद्धि ही कर गया। शिक्षा की दृष्टि से 'प्रयोजन पूर्ण' तथा 'प्रयोजन-प्रेरक' निरीक्षण ही उपयोगी हैं, 'प्रयोजन-रहित' सर्वथा निरुपयोगी हैं।

बालक की भिन्न-भिन्न आयु को दृष्टि में रख कर शिशु-वर्ग तथा लोअर प्राइमरी, अपर प्राइमरी एवं मिडिल कक्षाओं का पाठ्य-क्रम निश्चित किया जाता है। अध्यापक का कर्तव्य है कि बालक की भिन्न-भिन्न आयु में उसके अनुकूल सामग्री उपस्थित करता रहे ताकि वह 'निरीक्षण' की सान पर बुद्धि की धार को तेज करता रहे।

शिशु-वर्ग तथा लोअर प्राइमरी के लिये—

छोटे बच्चों के निरीक्षण के लिए जो-कुछ चुना जाय वह उन के घर, पाठशाला के आस-पास होना चाहिये, उसकी उनके जीवन से अत्यन्त निकटता होनी चाहिये। वे घर के कुत्ते, अपनी गाय भैंस बिल्ली के संबंध में निरीक्षण कर अपना संग्रह तय्यार कर सकते हैं। घर में खेती हो तो साग-सब्जी, फूल-पत्ती के विषय में निरीक्षण कर सकते हैं। गर्मी, सर्दी, वर्षा में क्या-क्या ऋतु परिवर्तन होता है—अपने निरीक्षण के आधार पर इसका भी संग्रह बना सकते हैं।

अपर प्राइमरी के लिये—

कुछ बड़े बालकों को स्वतन्त्र रूप से निरीक्षण करने पर प्रेरित करना चाहिये। गेहूं, चना, सरसों के बीज बोकर प्रत्येक पौधे के अंकुर फूटने, तना निकलने, बढ़ने, सूखने के सम्पूर्ण इतिहास को

सिलसिलेवार लिखने की उन्हें प्रेरणा करनी चाहिये। प्राणियों में मेंढक के जीवन का इतिहास बड़ा महत्वपूर्ण है। वह विकास क्रम की भिन्न भिन्न अवस्थाओं में से गुजरता है। अपर प्राइमरी के बच्चों से मेंढक के सपूर्ण जीवन का निरीक्षण कराना चाहिये, और उनसे उस इतिहास को क्रम-बद्ध लिखने को कहना चाहिये। शहतूत के पत्तों पर रेशम के कीड़े छोड़कर उनकी भिन्न भिन्न अवस्थाओं का निरीक्षण करते हुए विद्यार्थी बहुत-कुछ सीख जाते हैं।

मिडल कक्षा के लिये—

मिडिल कक्षा के विद्यार्थियों से विज्ञान के साधारण नियमों को स्पष्ट करने वाली घटनाओं का निरीक्षण कराना चाहिये। भौतिकी, रसायन-शास्त्र, यान्त्रिकी, चुम्बक, विद्युत् आदि के सिद्धान्तों को स्पष्ट करने की घटनाओं का निरीक्षण किया जा सकता है। अगर निकट कोई पानी से बिजली पैदा करने वाला प्लान्ट हो तो बालकों को वहां ले जाकर उसका निरीक्षण कराना चाहिये।

उच्च श्रेणियों के लिये—

इससे भी ऊँची श्रेणियों के विद्यार्थियों के लिये अनेक ऐसे प्रयोग कराये जा सकते हैं, जिन से 'निरीक्षण' करते-करते बालक अपनी इन्द्रियों को साध सकें, और साधते-साधते अनेक क्रियात्मक बातें सीख जांय। कुछ प्रयोग नीचे दिये जाते हैं:—

(१) बालकों से पाठशाला में सब्जियों का एक बगीचा बनवाया जाय। वे हर मौसम की शाक भाजी पैदा करें, और उस से जो आय हो वह उनके खाते में जमा की जाय।

(२) उनसे भूमि सम्बन्धी प्रयोग कराये जांय। एक जगह गहरा गढ़ा खोदकर दिखाया जाय कि कितनी तहें दीख पड़ती हैं। वर्षा होने के बाद पानी के बहाव को देखकर भौगोलिक नक्शा

बनवाया जाय। भिन्न-भिन्न मिट्टियों में पानी कितनी जल्दी या देर में प्रविष्ट होता है—इस पर परीक्षण तथा निरीक्षण किया जाय।

(३) मौसमों का निरीक्षण किया जाय। समय का ज्ञान करने के लिए छड़ी गाड़ कर उसकी छाया का निरीक्षण करके घड़ी बनाई जाय। छाया की सहायता से दिशाओं का पता लगाया जाय। वायु-मापक यन्त्र बनाया जाय।

(४) वृक्षों का अध्ययन किया जाय। किन्हीं वृक्षों का एक ही तना होता है, किन्हीं के दो, किन्हीं के अनेक। अपने निरीक्षण से बालक वृक्षों के नाम लिखकर उनका वर्गीकरण करें।

(५) इसी प्रकार पशुओं, पक्षियों, कीटों, पतङ्गों का निरीक्षण करके उन्हें अपनी नोट-बुकों में लिखना तथा उसके आधार पर परिणाम निकालना विद्यार्थियों को क्रियात्मक बनाने में बहुत सहायक है।

(६) पाठशाला में 'जलाशय' (Aquaria) बनाकर उसमें जल-जन्तु तथा जल-वृक्ष रखे जा सकते हैं। कांच के बड़े बर्तन में भी इसी प्रकार का संग्रहालय तैयार किया जा सकता है। इन सब का 'निरीक्षण' करना चाहिए।

'निरीक्षण' के आधार पर बालकों को भूगोल, विज्ञान आदि अनेक विषय पढ़ाये जा सकते हैं। निरीक्षण की हुई वस्तु का वर्णन करने को, उसे लिखने को कहा जा सकता है। इस प्रकार 'निरीक्षण' अन्य विषयों के लिए भी सहायक है।

२—सरस्वती यात्राएँ

कोई समय था जब कि पाठशालाओं में 'वस्तु-पाठ' पढ़ाया जाता था, और इसमें जड़-चेतन दोनों का पाठ होता था। जड़ में ईंट, पत्थर, पहाड़, नदी-नाले तथा वृक्ष, फूल, फल, पत्ती; चेतन में मनुष्य-पशु-पक्षी। इन पाठों में चित्रों, ड्राइंग तथा मॉडल बना कर बालकों

को वस्तु का परिचय कराया जाता था। परन्तु चित्रों, ड्राइंग तथा मॉडल की अपेक्षा भी वस्तु को अपनी प्राकृतिक अवस्था में देख कर, उसका निरीक्षण करके, जो ज्ञान प्राप्त होता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान है, और प्रत्यक्ष ज्ञान सब ज्ञानों से उत्कृष्ट है। जीराफ़ का चित्र देखो, उस का मॉडल बनाओ, सब-कुछ करो, परन्तु सच-मुच के जीराफ़ को देखना और बात है, और चित्र को देखना दूसरी बात है। हम तो यहां तक कहेंगे कि चिड़ियाघर के जीराफ़ को देखना और जंगल में मस्त फिर रहे जीराफ़ को देखना इन दोनों में भी महान् भेद है। आजकल की शिक्षा 'वस्तु-पाठ' (Object Lesson) तथा 'प्रकृति पाठ' (Nature Lesson) में भेद करती है। 'वस्तु पाठ' पढ़ाते हुए हम निस्सन्देह आम को लाकर पाठशाला में बालकों को दिखाते हैं, परन्तु अगर हम बालकों को गाँव के बगीचे में ले जाँय, वहाँ उन्हें आम का बाग दिखायें, आम से लदे हुए, कोई पके, कोई अध-पके, कोई कच्चे आम के फल पेड़ों पर लद रहे हों—इस 'प्रकृति पाठ' से, प्राकृतिक परिस्थिति में वस्तु जिस रूप में है, उसका 'निरीक्षण' करने से बालक जो कुछ सीख जायगा, वह स्कूल में आम लाकर दिखा देने से नहीं सीखेगा। बालक पढ़ाने से उतना नहीं सीखता जितना निरीक्षण से सीखता है, और निरीक्षण का सर्वोत्तम उपाय यही है कि उस गांव के आस पास घूमने को ले जाया जाय, वहाँ जो कुछ है वह उसे देखे, और सम्भव हो तो उसे दूर-दूर 'सरस्वती यात्राओं' (Excursions) के लिये ले जाया जाय।

बालकों को सरस्वती यात्रा पर जाने का जब भी अवसर मिलता है तो वे एकदम चेतन हो जाते हैं, उत्साह से भर जाते हैं। परन्तु यह यात्रा साधक हो, 'प्रयोजन-पूर्ण' हो, इस के लिये शिक्षक को बड़ी सावधानी बरतनी चाहिये। यात्रा का कोई विशेष

उद्देश्य, प्रयोजन होना चाहिये। मुग़ल बादशाहों ने दिल्ली के आस-पास कौन-सी इमारतें बनवायीं—इस उद्देश्य से दिल्ली की यात्रा की जा सकती है। सब से अच्छा यह है कि अध्यापक पहले ही उन स्थानों पर हो आये जहाँ यात्रा करनी है ताकि वह हर बात में बालकों को ठीक दिशा की तरफ निर्देश दे सके। इस बात पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है कि यात्रा में बालक अपना समय यों ही नष्ट न कर दें। एक अध्यापक के साथ २० से अधिक बालक नहीं होने चाहियें। बालकों के पास नोट-बुक हो जिसमें वे सब-कुछ लिखते जाँय। इन यात्राओं से ही पता लगता है कि आँखें रखता हुआ भी अन्धा कौन है, और कान रखता हुआ भी बहरा कौन है? अगर गांव के आस-पास की जड़ी-बूटियों की जानकारी के लिये यात्रा की गई है तो फूल-पत्ती के नमूने रखना बड़ा ज़रूरी है। इन *सरस्वती-यात्राओं* से बालकों की *'निरीक्षण-शक्ति'* तीव्र होती है, और यह निरीक्षण की आदत विज्ञान के विद्यार्थी को एक महान् वैज्ञानिक, साहित्य के विद्यार्थी को एक महान् साहित्यकार तथा मनुष्य-समाज की गति-विधि के विद्यार्थी को एक महान् नेता बना देती है।

१०

व्यक्ति तथा 'कक्षा'-शिक्षण पद्धति

(*INDIVIDUAL AND CLASS-TEACHING METHOD*)

बालक को किस प्रकार शिक्षा दी जाय, इसके अनेक उपाय हमने देखे। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उसे व्यक्ति रूप से इकले को शिक्षा दी जाय, या कई बालकों को इकट्ठे? व्यक्ति रूप से एक एक बालक पर अलग अलग ध्यान देकर शिक्षा देना 'व्यक्ति शिक्षण पद्धति' (Individual Teaching Method) है; अनेक बालकों को इकट्ठे एक समान शिक्षा देना 'कक्षा शिक्षण-पद्धति' (Class Teaching Method) है।

१—व्यक्ति-शिक्षण-पद्धति

'व्यक्ति शिक्षण पद्धति' के दो रूप हो सकते हैं। या तो एक बालक के लिए एक अध्यापक रक्खा जाय, या अनेक बालकों के रहते हुए भी उन सब को अलग अलग ही पढ़ाया जाय। हर बालक के लिये अलग अलग शिक्षक रखना संभव नहीं है। राजा-महाराजा ऐसा कर सकें, सब ऐसा नहीं कर सकते। हाँ, अनेक बालकों के एक साथ रहते हुए भी उन पर अलग-अलग ध्यान दिया जा सकता है। योरोप तथा भारत में प्राचीन काल में इसी

प्रकार की शिक्षण-पद्धति प्रचलित थी। एक अध्यापक होता था, भिन्न-भिन्न पाठ पढ़ने वाले अनेक विद्यार्थी होते थे। बड़े विद्यार्थी छोटों को पढ़ाते थे, और बड़े विद्यार्थी अध्यापक के पास पढ़ते थे। अध्यापक ने जिस विद्यार्थी को पढ़ाना होता था, उसे अपने पास बुलाकर पढ़ा देता था। क्योंकि इस शिक्षण पद्धति में एक ही अध्यापक सब विद्यार्थियों को सब विषय स्वयं या अपने शिष्यों की सहायता से पढ़ा लेता था, इसलिए यह सस्ती तो थी परन्तु इसमें निम्न दोष थे :—

(१) क्योंकि स्कूल के छोटे बड़े सब विद्यार्थी एक ही कमरे में होते थे ताकि अध्यापक सब पर दृष्टि रख सके, इसलिए व्यवस्था के स्थान पर अव्यवस्था ज्यादा रहती थी। जिस समय अध्यापक किसी बड़े बालक को अपने पास बुला कर पढ़ा रहा होता था उस समय दूसरे बालक शोर मचाने के सिवाय कुछ न करते थे।

(२) क्योंकि बड़े लड़के छोटों को पढ़ाते थे, इसलिए पढ़ाई बहुत अच्छी नहीं हो सकती थी। अध्यापक के पढ़ाने और विद्यार्थी के पढ़ाने में अन्तर तो रहता ही है।

(३) इकट्ठे पढ़ाने पर एक-दूसरे का मुकाबिला करने, एक-दूसरे से आगे बढ़ने आदि के गुण विद्यार्थियों में नहीं उत्पन्न होते थे।

२—कक्षा-शिक्षण-पद्धति

इस पद्धति के गुण—

'व्यक्ति-शिक्षण-पद्धति' के उक्त दोषों को देखकर इंगलैंड में १८६२ में यह नियम बनाया गया कि स्कूल की भिन्न-भिन्न कक्षाओं में विभक्त किया जाय, प्रत्येक कक्षा की अलग-अलग पाठविधि

हो, उसका अलग अध्यापक हो, और एक स्तर के विद्यार्थी एक साथ पढ़ें। तभी से 'कक्षा-शिक्षण-पद्धति' (Class teaching) का प्रारम्भ हुआ। इस पद्धति के निम्न गुण हैं —

(१) बालक स्वभाव से अपनी आयु के बालकों के साथ रहना पसन्द करता है। घर में भी बड़ी आयु का बालक अपने से छोटी आयु के भाई बहन के साथ रहने के बजाय अपनी आयु के दूसरे बच्चों को साथी बना लेता है। उनके साथ वह ऐसा अनुभव करता है मानो अपनों के बीच में हो। यह सब इसलिये होता है क्योंकि बालक हम सब की तरह एक सामाजिक प्राणी है, वह मानो अपना समाज ढूंढ लेता है। 'कक्षा' एक समाज है, इसलिये इस समाज में उसका अपने को घर-का सा अनुभव करना स्वाभाविक है।

(२) जब मनुष्य समाज में बैठता है तब उसकी क्रिया शक्ति तथा अनुभव शक्ति पहले से बढ़ जाती है। इकला गाने में और सैंकड़ों व्यक्तियों के साथ देश-भक्ति का गीत गाने में कितना अन्तर है! जब सब मिल कर एक साथ कोई काम करते हैं तब प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति अलग अलग भी बढ़ी हुई होती है। एक का उत्साह दूसरे को, और दूसरे का तीसरे को स्फूर्ति देता है।

(३) इसके अतिरिक्त सामूहिक कार्य में प्रतिस्पर्धा के कारण एक-दूसरे से आगे निकलने की प्रवृत्ति आ जाती है और विद्यार्थियों में हर समय उत्साह बना रहता है।

(४) जैसे अनेक विद्यार्थियों के बीच में अपने को पाकर प्रत्येक विद्यार्थी में स्फूर्ति, उत्साह फूट पड़ता है, वैसे ही अध्यापक भी एक विद्यार्थी को पढ़ाते हुए उतना उत्साह नहीं अनुभव कर सकता जितना एक कक्षा के सम्मुख अनुभव करता है। अच्छा व्याख्याता भरी सभा में बोलता हुआ अपने से बहुत ऊंचे उठ

जाता है; अच्छा अध्यापक भी भरी कक्षा को पढ़ाता हुआ बहुत ऊँचा उठ जाता है। साथ ही अध्यापक को जब मालूम है कि कक्षा में कोई भी विद्यार्थी कैसा भी प्रश्न कर सकता है तब उसे पाठ तैयार करना ही पड़ता है।

इस पद्धति के दोष —

'कक्षा-शिक्षण पद्धति' पर्याप्त समय तक चल चुकी है, अतः अब शिक्षा विज्ञों का ध्यान इस पद्धति के दोषों की तरफ आकृष्ट हुआ है। इस पद्धति के निम्न दोष कहे जाते हैं :–

(१) इस पद्धति में विद्यार्थियों के वैयक्तिक भेदों को सम्मुख नहीं रखा जाता, सब भेड़ों को एक ही लाठी से हाँका जाता है। अध्यापक अपनी एक चाल से चलता है, विद्यार्थियों की अनेक चालें होती हैं। एक ही कक्षा में कोई गणित में तेज, कोई कमज़ोर, कोई विज्ञान में तेज, कोई कमज़ोर। किसी की आलेखन में रुचि, किसी की साहित्य में, किसी की इतिहास में। जिसकी विज्ञान में रुचि है, उसके लिए विज्ञान के घण्टे बढ़ाये नहीं जाते, जिसकी रुचि नहीं उसके लिए घटाये नहीं जाते। विद्यार्थियों के व्यक्तिगत भेदों में सब से मुख्य भेद उनका तेज और कमज़ोर होना है। अगर अध्यापक तेज बालकों की रफ्तार से चलता है तो कमज़ोर के पल्ले कुछ नहीं पड़ता, अगर कमज़ोरों की रफ्तार से चलता है, तो तेज लड़के ऊब जाते हैं, शरारतों में लग जाते हैं।

(२) इस पद्धति में अधिकतर काम अध्यापक ही करता है। वह कक्षा में आया, और व्याख्यान देने लगा। आध घण्टा, पौन घण्टा बोलता रहा, विद्यार्थी चुप-चाप सब-कुछ सुनता रहा, विद्यार्थी को स्वतन्त्रता पूर्वक कुछ करने की खुली छूट नहीं होती। वर्तमान शिक्षा शास्त्री अध्यापक को इतनी लम्बी छूट देने के स्थान

में विद्यार्थी को छूट देना चाहते हैं, विद्यार्थी पुस्तक-पाठ करे, वह परीक्षण करे, जो कुछ करना हो वह करे, अध्यापक न करे, क्योंकि जो करेगा वही सीखेगा, सीखना विद्यार्थी को है, अध्यापक को नहीं।

(२) इस पद्धति में गुरु-शिष्य का तो कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता। अध्यापक को पढ़ाने से मतलब, किन को पढ़ा रहा है, इससे मतलब नहीं। शिक्षक के व्यक्तित्व की छाप विद्यार्थी पर पड़े, ऐसा-कुछ इस पद्धति में नहीं होता। गुरु शिष्य को एक दूसरे को जानने का, एक-दूसरे को समझने का अवसर ही नहीं मिलता। अनेक अध्यापक तो अपने विद्यार्थियों के न नाम जानते हैं, न उन्हें पहचानते हैं; वे 'कक्षा' को जानते हैं, 'व्यक्ति' को नहीं।

३—नवीन शिक्षण-पद्धतियां

'कक्षा शिक्षण-पद्धति' के उक्त दोषों के कारण शिक्षा शास्त्रियों का ध्यान फिर 'व्यक्ति शिक्षण पद्धतियों' (Individual Teaching) की तरफ जा रहा है। हां, इस बार यह वैयक्तिक-शिक्षण प्राचीन काल के वैयक्तिक-शिक्षण से भिन्न है। व्यक्ति की भिन्नताओं को सम्मुख रखते हुए जो नवीन शिक्षण पद्धतियाँ चल रही हैं उनका वर्णन आगे किया जायगा। मुख्य-मुख्य 'व्यक्ति-शिक्षण पद्धतियां' निम्न लिखित हैं :—

(क) किंडरगार्टन या बालोद्यान शिक्षा
(ख) मॉन्टीसोरी-पद्धति
(ग) प्रोजेक्ट पद्धति
(घ) डाल्टन पद्धति
(ङ) बेसिक शिक्षा पद्धति।

११

सानुबन्ध-शिक्षा

(METHOD OF CORRELATION OF STUDIES)

•व्यावहारिक दृष्टि—

विद्यालय की प्रत्येक कक्षा में अनेक विषय पढ़ाये जाते हैं। पढ़ाई, लिखाई—ये दो विषय हैं ; इतिहास, भूगोल—ये दो विषय हैं। अङ्क-गणित, बीज-गणित, ज्यामिति—ये तीन विषय हैं; सुलेख, शीघ्र-लेख, व्याकरण, निबन्ध, साहित्य—ये पाँच विषय हैं। इस प्रकार विषयों को गिना जाय तो उनकी संख्या बीस के लगभग हो जाती है। इतने विषयों को थोड़े-से समय में कैसे पढ़ाया जाय—यह शिक्षक की सब से बड़ी समस्या है। परन्तु क्या वास्तव में ये सब विषय अलग अलग हैं। जरा ध्यान देने से प्रतीत होगा कि इन विषयों में से अनेक का आपस में सम्बन्ध है, इतना सम्बन्ध कि एक को पढ़ाते में दूसरा स्वयं पढ़ाया जाता है। पढ़ाई लिखाई एक ही विषय में आ जाते हैं; इतिहास-भूगोल एक-दूसरे के साथ रले मिले हैं; सुलेख शीघ्रलेख साथ साथ रहते हैं; व्याकरण-निबन्ध साहित्य को बाँधा जा सकता है। भिन्न-भिन्न विषयों का एक-दूसरे के साथ स्वाभाविक संबन्ध है। विषयों को एक दूसरे के साथ बाँध कर पढ़ाना ही 'सानुबन्ध-शिक्षा' (Correlation of Studies) कहाती है।

शिक्षक १५-२० विषयों को कैसे पढ़ाये—इसी समस्या को हल करने के लिये 'सानुबन्ध-शिक्षा' (Correlation of Stud-

ies) के सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया जाता, इस सिद्धान्त के आधार में मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक विचारधारा भी काम कर रही है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि—

'मनोवैज्ञानिक-दृष्टि' से विचार किया जाय तो बालक का ज्ञान भिन्न भिन्न विषयों का अलग अलग ज्ञान नहीं होता, उसका ज्ञान एक समूचे जगत् का ज्ञान है; 'अवयवी' का ज्ञान होता है, 'अवयव' का नहीं, 'अवयव' का ज्ञान 'अवयवी' के ज्ञान के बाद होता है। गाना सुनते हुए मधुर संगीत का ज्ञान होता है, उसके ताल और लय का ज्ञान तो बहुत मेहनत से प्राप्त किया जाता है। शिक्षक का कर्त्तव्य है कि बालक के मन की रचना के अनुसार चले—जब उसके मन में ज्ञान अलग अलग भागों में नहीं बँटा हुआ तब उसी प्रकार चलने से वह ज्ञान को आसानी से प्राप्त कर लेता है। बालक के लिये सब विषय एक हैं, ज्यों ज्यों वह विकसित होता जाता है त्यों त्यों वह एकता से अनेकता-का अनुभव करता जाता है। शिक्षक को भी इसी प्रकार चलना होगा। पहले सब विषयों को एक साथ रला मिला कर बालक के सम्मुख रखना होगा, और ज्यों-ज्यों वह विकसित होता जायगा त्यों त्यों उन विषयों को एक-दूसरे से अलग अलग करना होगा।

दार्शनिक दृष्टि—

'दार्शनिक-दृष्टि' से विचार किया जाय तो भी मनुष्य का ज्ञान एक अभिन्न इकाई है। ज्ञान में विविधता नहीं, एकता है। जब तक कोई नई बात मन में आकर मन की पुरानी सचित बातों के साथ अपना किसी-न किसी तरह का सम्बन्ध नहीं बाँध लेती तब तक वह अलग पड़ी रहती है, खटकती है, मन का हिस्सा नहीं बनती। हमारे घर में कोई अतिथि आये तो उसे हमारे या हमारे

सगे सम्बन्धी मित्रों के साथ कोई-न कोई सम्बन्ध बतलाना होगा तभी उसे घर में आश्रय मिलेगा रास्ते में चलते फिरते को कोई अपने घर में स्थान नहीं देता। यही विचारों का हाल है। जिन विचारों ने मन में पहले घर किया हुआ है, नये विचारों को उनके साथ किसी न किसी प्रकार का सबंध जोड़ना होगा। संबंध जुड़ जायगा तो उनका स्वागत होगा, नहीं जुड़ेगा तो उन्हें वहाँ स्थान नहीं मिलेगा। इसी विचार को जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक तथा शिक्षा शास्त्री हर्बार्ट ने अपनी विचार-धारा में पुष्ट करके 'केन्द्रीकरण' (Concentration) तथा 'सानुबन्ध शिक्षा' (Correlation of Studies) के सिद्धान्तों को जन्म दिया।

केन्द्रीकरण का सिद्धान्त—

हर्बार्ट का कथन था कि 'मन' का 'विश्लेषण' किया जाय तो कुछ नहीं रहता, फिर सिर्फ 'विचार' रह जाते हैं। विचारों के 'संश्लेषण' का नाम ही मन है। जैसे ईंटों को जोड़ने से घर बनता है वैसे विचारों को जोड़ने से मन बनता है। परन्तु ईंटों को किसी भी क्रम से रख देने से तो घर नहीं बनता, ईंटों का ढेर बन जाता है; विचारों को भी किसी भी प्रकार भर देने से 'व्यवस्थित मन' नहीं बनता, विक्षिप्त मन बन जाता है, व्यवस्थित मन तभी बनता है जब इन विचारों को किसी क्रम से रखा जाय, उन्हें आपस में एक दूसरे से बांध दिया जाय। विचारों को इस प्रकार क्रम से बांधने से मानो एक 'विचारों का वृत्त' (Circle of thought) बन जाता है। जैसे सुन्दर वृत्त चारों तरफ से गोल होता है, कहीं से उभरा, कहीं से चपटा नहीं होता, इसी प्रकार क्रम से पड़े हुए और आपस में स्वाभाविक शृंखला में बंधे हुए विचार एक 'विचारों के वृत्त' का निर्माण करते हैं। जिस व्यक्ति के विचार जितने शृंखला में बंधे होते हैं, उसका उतना सुन्दर 'विचार वृत्त' (Cir-

cle of thought) बनता है, और विचारों का जितना सुन्दर 'वृत्त' होता है उतना ही उस व्यक्ति का मन सुव्यवस्थित होता है, सुव्यवस्थित मन से ही मनुष्य में 'व्यवसाय शक्ति' (Will power) उत्पन्न होती है, 'व्यवसाय शक्ति' से ही वह किसी कार्य के करने में सफल होता है। 'विचार वृत्त' के बनने का अभिप्राय यही है कि मन में जो कुछ प्रवेश करे वह पहले के विचारों के साथ अपना सबंध स्थापित कर ले। वृत्त में जैसे एक केन्द्र होता है, केन्द्र से ही वृत्त बाहर को फैलता है, वैसे 'विचारों के वृत्त' का भी कोई केन्द्र होना चाहिये। इस केन्द्र के साथ प्रत्येक विचार को जोड़ कर मन का सुन्दर विकास होता है। अगर सदाचार को 'विचारों के वृत्त' का केन्द्र बना कर उसे विकसित किया जाय तो सम्पूर्ण जीवन चरित्र मय बन जाता है। जब 'विचार वृत्त' का केन्द्र बिन्दु सदाचार है, दूसरे सभी विचार इसी से गुँथे हुए हैं, इससे बिना जुड़ा कोई भी विचार नहीं, तब दुराचार का विचार मन में आकर अपने सरीखा कोई विचार न देखकर अन्दर टिक ही नहीं सकता। प्रायः देखने में आता है कि सुशिक्षित व्यक्ति भी दुराचारी होते हैं, अशिक्षित भी सदाचारी होते हैं। इस का कारण यही है कि सुशिक्षित होते हुए भी उस व्यक्ति के विचारों के वृत्त का विकास सदाचार के केन्द्र से नहीं हुआ, और अशिक्षित होते हुए भी दूसरे व्यक्ति के विचारों के वृत्त का विकास सदाचार के केन्द्र से हुआ है। शिक्षा के क्षेत्र में इस सिद्धान्त को घटाने को ही 'केन्द्रीकरण' (Concentration) का सिद्धान्त कहा जाता है। जैसे 'विचारों के वृत्त' का एक 'केन्द्र' है, सब 'विचार' उसी से जुड़े रहते हैं, वैसे अध्यापन में भी किसी विषय को 'केन्द्र' बनाकर अन्य सब विषयों का उसके साथ जोड़ देना मन को सुव्यवस्थित बना देता है। हर्बार्ट ने इतिहास को केन्द्र बना कर

अन्य विषयों को उसके साथ पिरो दिया था। इतिहास को केन्द्र बनाने का कारण यह था कि इस से महान् पुरुषों का चरित्र पढ़ कर विद्यार्थी ऊंचे चरित्र का भी बनता जाता है, और इतिहास के साथ जुड़ा सारा ज्ञान भी प्राप्त करता जाता है। साहित्य में ऐतिहासिक काव्य नाटक, गणित में प्राचीन सेनाओं के सिपाहियों की संख्या, वेतन आदि का हिसाब, भूगोल में जिन जिन मार्गों से आक्रान्ताओं को गुजरना पड़ा उनका वर्णन, विज्ञान में युद्धों के समय बंदूक आदि का वर्णन करके सब विषयों को इतिहास के इर्द गिर्द बांध दिया जाता है। अमेरिका में हर्बार्ट के अनेक अनुयायियों ने 'इतिहास' के स्थान में 'प्रकृति पाठ' (Nature Study) को सब विषयों का केन्द्र बनाने का प्रयत्न किया है। 'निरीक्षण तथा सरस्वती यात्रा' के अध्याय में हम देख चुके हैं कि किस तरह 'प्रकृति पाठ' को केन्द्र बनाकर अन्य विषय पढ़ाये जा सकते हैं।

अनुबन्ध शिक्षा का सिद्धांत—

'केन्द्रीकरण' (Concentration) का अर्थ है किसी एक विषय को केन्द्र बना कर पढ़ाना, 'सानुबन्ध' का अर्थ है उस केन्द्रीय विषय के साथ अन्य विषयों का सम्बन्ध जोड़ कर पढ़ाना। किसी विषय को केन्द्र बनाने का उद्देश्य यही है कि उस केन्द्र के साथ अन्य विषयों का सम्बन्ध जोड़ा जाय, इसलिये 'केन्द्रीकरण' (Concentration) 'अनुबन्ध' (Correlation) स्थापित करने के लिये ही है। भारत में जिस बेसिक शिक्षा प्रणाली पर जोर दिया जा रहा है उसमें कताई आदि किसी काम को 'केन्द्रीय विषय' (Central Subject) बना कर अन्य विषयों का उसके साथ 'अनुबन्ध' (Correlation) अर्थात् सम्बन्ध स्थापित करना ही उद्देश्य है।

'केन्द्री करण' के विषय में यह आपत्ति की जाती है कि सब विषयों को एक ही विषय के साथ नहीं टाँका जा सकता, परन्तु 'अनुबन्ध' स्थापित करते जाना, एक विषय का दूसरे के साथ सम्बन्ध जोड़ते जाना तो कोई कठिन काम नहीं है। यह ठीक है कि जहाँ सम्बन्ध न हो वहाँ भी जबर्दस्ती किसी न किसी तरह से सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न करना ठीक नहीं, परन्तु जहाँ सम्बन्ध हो वहाँ सम्बन्ध दिखाना 'व्यावहारिक', 'मनोवैज्ञानिक' तथा 'दार्शनिक' दृष्टि-कोण से सर्वथा उचित है।

१२

क्रिया द्वारा शिक्षा की पद्धति

DYNAMIC OR ACTIVITY METHOD IN EDUCATION

पुराने और नये शिक्षा-शास्त्र में यह भेद है कि पहले 'अपने- आप करके सीखने और खेल द्वारा सीखने' (Learning by doing and learning by play) को शिक्षा का अङ्ग नहीं माना जाता था। जो कुछ करता था शिक्षक करता था, बालक नहीं; शिक्षक परीक्षण करके दिखाता था, बालक देखता था; शिक्षक पाठ पढ़कर सुनाता था, बालक सुनता था। आजकल यह समझा जाता है कि बालक परीक्षण करे, शिक्षक देखे, जहाँ अशुद्धि हो वहाँ बता दे; बालक पाठ पढ़े, शिक्षक सुने, जहाँ अशुद्धि हो वहाँ बता दे। जितनी नवीन शिक्षा-प्रणालियाँ निकली हैं—'प्रोजेक्ट', 'डाल्टन', 'किंडरगार्टन', 'मान्टीसरी', 'बेसिक'—सब के आधार में ये दोनों दृष्टि-कोण काम कर रहे हैं। इस अध्याय में हम 'क्रिया' द्वारा, और अगले अध्याय में 'खेल' द्वारा शिक्षा देने का वर्णन करेंगे।

'शिक्षा' एक विशेष प्रकार की 'क्रिया' का नाम है। बालक लिखता है, हम कहते हैं, यों न लिखो, यों लिखो; वह पढ़ता है, हम कहते हैं, यों न पढ़ो, यों पढ़ो; वह जो कुछ करता है, हम कहते हैं, यों न करो, यों करो—बालक 'क्रिया' कर रहा है, हम उस 'क्रिया' को ठीक दिशा दे देते हैं, यही 'शिक्षा' है।

अगर बालक के भीतर चल रही अपनी क्रिया—'आभ्यन्तर-क्रिया'—(Self-activity) न होती, तो शिक्षा का प्रश्न एक 'मनोवैज्ञानिक' प्रश्न न होकर एक 'यान्त्रिक' प्रश्न होता। ईंट-पत्थर में अपनी कोई 'आभ्यन्तर क्रिया' (Self-activity) नहीं है, उनसे हम जैसा मकान चाहें खड़ा कर देते हैं; बालक की 'आभ्यन्तर क्रिया' क्योंकि अपनी ही किसी दिशा की तरफ जा रही है इसलिए उस 'क्रिया' को ध्यान में रख कर चलना हमारे लिए आवश्यक हो जाता है। या तो जिस दिशा की तरफ उसकी 'आभ्यन्तर-क्रिया' जा रही है हमारी क्रिया भी उसी दिशा की तरफ चले, या उस क्रिया को रोककर कोई दूसरी दिशा दे। अगर हमारी क्रिया बालक की क्रिया की दिशा में ही चलती है तब तो बालक हंसी-खुशी से हमारी बात का स्वागत करता है, अगर उसके विरोध में चलती है, तब बालक और शिक्षक की क्रियाओं में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। वर्तमान शिक्षा शास्त्र यही कहता है कि शिक्षक को बालक की 'आभ्यन्तर-क्रिया' (Self-activity) का पता लगाकर, उसके साथ चलकर, उसे ठीक दिशा देनी चाहिए, और आवश्यकता पड़ने पर ऐसी 'आभ्यन्तर-क्रिया' उत्पन्न कर देनी चाहिए जिससे वह ठीक दिशा की तरफ स्वयं चल पड़े।

हम सड़क पर चले जा रहे हैं, इतने में कोने से एक चोर निकला। हमने उसे अपनी तरफ बुलाया, वह भाग खड़ा हुआ। ठीक इसी समय एक दूसरा आदमी दिखाई दिया, वह भूखा था, उसे भी हमने पुकारा, वह झट बढ़ कर आगे आ गया। क्या कारण है कि पुकारने से एक आदमी भाग गया, दूसरा निकट आ गया? कुत्ता भूखा है, हमने खाली हाथ आगे करके उसे पुचकारा, वह उछलता हुआ आया, वह भूखा नहीं है, हमने हाथ

में रोटी लेकर उसके सामने की, उसने हमारी तरफ देखा भी नहीं। क्या कारण है कि वही कुत्ता एक हालत में मांगता आता है, दूसरी हालत में हमें पहचानता भी नहीं? इस सबका यही कारण है कि संसार में 'विषय' (Stimulus) के सामने आते ही मनचाही 'प्रतिक्रिया' (Response) नहीं उत्पन्न होती, इसलिए नहीं होती क्योंकि जिस 'व्यक्ति' (Organism) ने प्रतिक्रिया करनी है उसकी अपनी क्रिया—'आभ्यन्तर क्रिया'—(Self activity) भी चल रही होती है, और उसकी भीतरी क्रिया और हमारी दी हुई क्रिया के परिणाम से जो क्रिया हो सकती है वही क्रिया उत्पन्न होती है। कई क्रियाओं का परिणाम कौन-सी क्रिया होगी इसका निश्चय करने में 'व्यक्ति' के भीतर चल रही क्रिया का सबसे मुख्य प्रभाव पड़ता है।

बालक शान्त नहीं, क्रिया शील होता है, उसके भीतर बड़ी भारी क्रिया चल रही है, उसे बाँध कर बैठा देना उसे मानो जेल में डाल देना है। चतुर शिक्षक के हाथ में बालक की यह अतीव 'क्रिया शीलता' मसाले का काम करती है जिससे चतुर राज की भाँति वह एक भव्य भवन का निर्माण कर देता है। यह देखा गया है कि बालक दिन में १५ हजार शब्द तो बोल ही डालता है, उसका शब्द-कोष बहुत परिमित है, परन्तु एक ही बात को बार-बार बोलता जाता है। अपने शरीर के द्वारा साधारण व्यक्ति से ५ गुना ज्यादा शारीरिक श्रम करता है। बचपन में एक-एक 'ज्ञान-वाहक तन्तु' (Sensory Nerve) के लिए एक एक 'चेष्टा-वाहक-तन्तु' (Motor Nerve) होता है, क्योंकि उस समय क्रिया-ही क्रिया करनी होती है, पीछे जाकर कई 'चेष्टा-वाहक तन्तुओं' के स्थान में एक एक 'चेष्टा-क्षेत्र' (Motor area) बन जाता है क्योंकि उस समय उतनी अधिक क्रिया की आवश्यकता नहीं

रहती। बालक शान्त बैठते हैं तो भी कुछ न कुछ बोलते ही जाते हैं। उनमें क्रिया का यह अदम्य भरना इसीलिये फूटा पड़ता है क्योंकि बालक ने क्रिया द्वारा ही सब-कुछ सीखना होता है। बालक करते पहले हैं, सोचते पीछे हैं, बड़े होने पर पहले सोचते हैं, फिर करते हैं। जब तक बालक किसी काम को करके नहीं सीखता तब तक वह उसे पूरी तरह सीख ही नहीं पाता। किंडरगार्टन तथा मॉन्टीसरी पद्धति में बालक की क्रियाशीलता से ही लाभ उठाया गया है, जबानी शिक्षा नहीं दी जाती। 'क्रिया द्वारा सीखने' (Learning by Doing) की पद्धति को सब विषयों में प्रयोग किया जा सकता है। थॉर्नडाइक ने इसके सम्बन्ध में कुछ नियमों का प्रतिपादन किया है जिनका वर्णन हम 'शिक्षा मनोविज्ञान' में कर चुके हैं। व्यावहारिक गणित पढ़ाने का पुराना तरीका बड़े बड़े प्रश्न हल करवाने का था जिन्हें बालक कुछ नहीं समझता था। नवीन प्रणाली के अनुसार बालक से खरीदना-बेचना करवाया जाता है, स्कूल में अपना बैंक खोला जाता है, बालकों का उस में हिसाब रहता है, वे चेक काटते हैं, स्कूल में छोटे-छोटे बाजार लगाते हैं, लाभ हानि की समस्याओं को 'क्रिया पद्धति' द्वारा स्वयं सीख जाते हैं। आजकल 'विचारात्मक' (Theoretical) के साथ-साथ 'क्रियात्मक' (Practical) पढ़ाई पर विशेष बल दिया जाता है। लड़के परीक्षण करते हैं, नाटक खेलते हैं, बालचर बनते हैं, बढ़ई और जिल्दसाजी का काम सीखते हैं, यह सब इसलिये क्योंकि आज की शिक्षा प्रणाली ने शिक्षा में हाथ से काम करने के तत्व को समझ लिया है।

प्रश्न होता है कि बालक के मन में क्या चीज है जो उसे हर समय क्रियाशील बनाये रखती है? भूखा कुत्ता रोटी देखकर क्यों उछल कर आता है, चोर हमें देखकर क्यों भाग जाता है?

यह इसलिये कि कुत्ते को 'भूख' लगी है, चोर को 'भय' लगा है। क्रिया-शीलता की आधार यही 'भूख'-'भय'-'जिज्ञासा' आदि 'प्राकृतिक शक्तियाँ' (Instincts) हैं, यही हमारे भीतर बैठी-बैठी हमें इधर-से-उधर चलाया करती हैं। जिस समय ये हमें प्रेरणा दे रही होती हैं, हमें क्रिया के लिये बाधित कर रही होती हैं, तब इन्हें 'प्रेरक-कारण' (Urges, Motivations) कहा जाता है। ये 'प्रेरक कारण' ही हम से 'क्रिया' (Activity) कराते हैं। शिक्षक का काम पढ़ाते हुए 'प्रेरक-कारण' उत्पन्न कर देना या उन्हें प्रबल कर देना है। कक्षा में आकर यह कहकर पढ़ाना कि आज हम अमुक-अमुक पाठ पढ़ेंगे पढ़ाने का उत्तम तरीका नहीं है। पढ़ाने का तरीका यह है कि बालकों की 'क्रिया शीलता' को उत्तेजित करने वाले 'प्रेरक-कारणों' (Motivations) की सहायता से उसे काम में इस प्रकार लगा दिया जाय कि वह उससे चिपट जाय, और फिर काम को पूरा करके ही दम ले। 'मॉन्टीसरी'-'प्रजेक्ट' आदि पद्धति में इसी विचार को दृष्टि में रखा गया है। बालक के मन में 'प्रयोजन' (Purpose) उत्पन्न करके उसे उसके हल करने में लगा देने से वह काम करेगा, उससे थकेगा नहीं, और करते-करते बहुत कुछ सीख जायगा।

१३

खेल द्वारा शिक्षा की पद्धति

(PLAY WAY IN EDUCATION)

कोई समय था जब खेलना पाप समझा जाता था। माता-पिता प्रायः कहा करते थे, बच्चा हर समय खेल में लगा रहता है, पढ़ने में इसका दिल ही नहीं। जर्मनी के प्रो० कार्ल ग्रूस ने कहा कि खेलना पाप नहीं, खेलना तो प्राणी को शिक्षा देने का एक साधन है, इसलिये प्रकृति ने इसे सुरक्षित रखा हुआ है। जो चीज़ बेकार है वह संसार में टिकती नहीं—यह नियम है। संसार के प्रारम्भ दिन से आज तक बच्चा खेलता ही चला आया है, आज से लाखों साल पहले जंगली का बच्चा हो, आज के बादशाह का बच्चा हो—सभी खेलते हैं। खेल का प्रकृति में कोई भारी उपयोग है, तभी तो, हमें निकम्मी-सी जंचने वाली यह चीज़ आज तक बनी हुई है। पिछले अध्याय में हमने देखा था कि 'क्रिया-शीलता' (Activity) की उपयोगिता 'शिक्षा' के लिये है, इसी प्रकार 'खेल' की भी उपयोगिता यही है कि इस से पशु तथा मनुष्य का बालक सीखता है, भावी जीवन में जो-कुछ उसे करना है उसके लिये खेल द्वारा अपने को तैयार करता है। 'क्रिया-शीलता' ही किसी विशेष बात को सीखने के लिये 'खेल' का रूप धारण कर लेती है। जिन प्राणियों को कुछ सीखना नहीं वे खेलते भी नहीं। मच्छर को, खटमल को क्या सीखना है?

खाना और जीना इन दो के सिवाय उनका कोई काम नहीं, इन दोनों को वे जन्म से ही जानते हैं, इसलिए उनके जीवन में खेल का कोई स्थान नहीं। जिस प्राणी को जीवन-यात्रा के लिए अधिक सीखने की आवश्यकता है वह उतना ही अधिक खेलता है, जिसे जितना कम सीखने की आवश्यकता है वह उतना ही कम खेलता है। खेलना तो सीखने का भारी साधन है।

खेलना बालक के लिये सीखने का साधन क्यों है? यह इसलिए कि सिर्फ सीखना तो एक 'काम' हो जाता है, कोई भी 'काम' बालक के लिए डराने वाली चीज हो जाती है। बालक 'खेलना' चाहता है, 'काम' नहीं करना चाहता, हां, खेलने का अगर इस प्रकार उपयोग कर लिया जाय जिस से वह खेलता खेलता काम भी कर ले तब उसे कोई आपत्ति नहीं होती। वह क्यों 'खेलना' चाहता है, और क्यों 'काम' नहीं करना चाहता, इसके लिए 'खेल' और 'काम' के भेद को स्पष्ट रूप में समझ लेना आवश्यक है। 'खेल' और 'काम' में ये भेद हैं :—

(१) 'खेल' का उद्देश्य खेलमात्र होता है, 'काम' का उद्देश्य काम नहीं होता, कुछ और होता है। बालक गेंद से खेल रहा है, खेलने के अतिरिक्त उसका क्या उद्देश्य है? वकील वकालत कर रहा है। वह वकालत इसलिए करता है क्योंकि इससे पैसा पैदा होता है। 'खेल' में उद्देश्य सिद्ध होगा या नहीं होगा, यह भावना नहीं बनी रहती, क्योंकि बालक के मन में खेल के अतिरिक्त कोई उद्देश्य ही नहीं होता, 'काम' में उद्देश्य सिद्ध होगा या नहीं होगा, यह भावना बनी रहती है, 'खेल' में परिणाम की चिन्ता नहीं, 'काम' में परिणाम की चिन्ता है, इसलिए 'खेल' में बालक लगा रहता है, 'काम' से जी चुराता है।

(२) 'खेल' अपनी इच्छा पर आश्रित है, 'काम' दूसरे की

इच्छा पर। बालक खेलता है, कभी इधर भागता है कभी उधर, वह 'स्वतन्त्र' होता है। अगर खेल में बन्धन भी हैं तो अपने बनाये हुए, या अपने माने हुए। जो कुछ है अपनी इच्छा से है। काम में तो मनुष्य बंधा रहता है न इधर हिल सकता है, न उधर। जो बात अपनी इच्छा पर निर्भर करती है उसमें दिलचस्पी बनी रहती है, उसे आदमी देर तक करता चला जाता है, जो दूसरे की इच्छा पर निर्भर करता है उसे देर तक नहीं कर सकता। दुकानदार की मर्ज़ी है जब चाहे दुकान खोले, जब चाहे बन्द कर दे। दुकानदार की इस स्वतन्त्रता पर बड़े-बड़े नौकरी पेशा आह भरा करते हैं। वे बन्द हैं, बड़ी तनख़्वाह पाते हैं तो क्या आज़ादी तो नहीं है। दुकानदार अपने काम से जी नहीं चुराता, वे जी चुराते हैं। अध्यापक पढ़ाने आता है तो सोचता है, कब स्कूल बन्द हो और कब वह घर भागे, क्लर्क दफ़्तर आता है तो सोचता है कब चार बजें और कब वह उठे। वही लोग जब अपना काम अपनी मर्ज़ी से करने लगते हैं तो दिन रात काम करते हुए भी नहीं थकते। यह दूसरा कारण है कि बालक खेल में लगा रहता है, 'काम' में नहीं। यही कारण है कि जब 'खेल' बालकों के लिए आवश्यक कर दिया जाता है तब खेल के लिए जान देने वाले बालक भी खेल से जी चुराने लगते हैं, तब उनके लिए 'खेल' ही 'काम' बन जाता है।

(३) 'खेल' में आनन्द आता है, 'काम' में नहीं। 'खेल' में हारने पर भी बालक उछला-कूदा-हँसा करते हैं, 'काम' में तो आनन्द तभी आता है जब सफलता हो। जो सफल नहीं है, उस बेचारे को भी काम तो करना ही पड़ता है, जी मार कर काम करना पड़ता है क्योंकि कुछ किए बग़ैर गुज़ारा नहीं। यह तीसरा कारण है जिससे बालक 'खेल' में जुटे रहते हैं, थककर चकनाचूर हो जाने

पर भी क्योंकि आनन्द आ रहा है इसलिये खेलने से नहीं थकते, और थोड़ा-सा 'काम' करने पर ही क्योंकि आनन्द नहीं आ रहा इसलिये काम से ऊब जाते हैं।

हमने देखा कि 'परिणाम की चिंता का न होना', 'स्वतन्त्रता' तथा 'आनन्द' ये तीन बातें हैं जिनसे बालक खेल में लगा रहता है, उससे थकता नहीं। यह स्पष्ट है कि अगर इन तीनों को 'काम' के साथ जोड़ा जा सके तो बालक काम में भी लगा रहेगा, उससे थकेगा नहीं। 'काम' के साथ इन तीनों भावनाओं का सम्बन्ध जोड़ देना ही 'काम' को 'खेल' बना देना है, और इसी को 'खेल द्वारा शिक्षा देना' कहा जाता है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'खेल' कितने प्रकार के हैं, और उन्हें 'काम' के साथ कैसे जोड़ा जा सकता है?

कार्लग्रूस ने खेलों को ५ भागों में विभक्त किया है:—

(१) परीक्षणात्मक खेल (Experimental Plays)

(२) दौड़ धूप वाले खेल (Movement Plays)

(३) रचनात्मक खेल (Constructive Plays)

(४) लड़ने-भिड़ने वाले खेल (Fighting Plays)

(५) मानसिक खेल (Intellectual Plays)

'परीक्षणात्मक खेल' वे हैं जिनमें बालक चीजों को उठाने-धरने में लगा रहता है। इसमें वह भावी जीवन की तैयारी कर रहा होता है। पशु भी ऐसे खेल खेलते हैं। बिल्ली का बच्चा किसी भी चीज को कभी इधर से पकड़ता है, कभी उधर से—वह मानो चूहे के शिकार का अभ्यास कर रहा होता है। कुत्ते का पिल्ला दूसरे पिल्ले को खेल-खेल में दांतों से धर दबोचता है। उसे भी तो बड़े होकर शिकार खेलना होता है। इस प्रकार के खेलों से प्राणी को वस्तु के आकार प्रकार, रंग रूप का ज्ञान हो जाता है।

ऐसे खेल बालक व्यक्ति रूप से, इकले खेला करते हैं। मॉन्टीसरी पद्धति में परीक्षणात्मक-'खेल' को 'शिक्षा' के साथ जोड़ दिया है। बालक ने वस्तुओं को उठाना-धरना तो है ही, फिर उसके गिर्द ऐसे उपकरण क्यों न रख दिये जॉय जिनसे वह इनके साथ खेलता खेलता वस्तुओं के आकार प्रकार, रंग-रूप आदि के विषय में व्यवस्थित रूप में कुछ सीख भी जाय। मॉन्टीसरी स्कूल में जाने वाले बच्चे से हमने एक बार पूछा, तुम वहाँ क्या पढ़ते हो? उसने कहा, हम पढ़ते नहीं, खेलते हैं। बात भी ठीक है, वे खेलते हैं, और खेलते-खेलते पढ़ जाते हैं।

'दौड़-धूप वाले खेल' वे हैं जिनमें बालक एक-दूसरे के पीछे भागते हैं, पत्थर उठाकर फेंकते हैं, वे यूं ही इधर-उधर फिरा करते हैं, कुछ-न-कुछ बोला करते हैं। ये खेल बालक इकले भी खेलते हैं, दूसरों के साथ भी, साथ खेलने से इन खेलों में तीव्रता और वेग आ जाता है। इन खेलों से उनके शरीर का गठन दृढ़ होता है, शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों या पारस्परिक सहयोग बढ़ता है। किंडरगारटन पद्धति में इसी भावना को ओत प्रोत किया गया है, यहाँ तक कि माता से भी यह आशा की जाती है कि वह बालकों के साथ खेल सके। इस प्रकार के खेलों से बालकों में सहयोग, सहानुभूति आदि की भावनाओं को उत्पन्न किया जा सकता है।

'रचनात्मक खेलों' में बालक मट्टी का घर बनाते हैं, स्काउटिंग सीखते हुए पुल बनाते हैं, हाथ से काम करते हुए पुस्तकों की अपेक्षा बहुत अधिक सीख जाते हैं। ये खेल बड़ों के हैं। बालचर संस्था रचनात्मक खेलों का सबसे अच्छा दृष्टान्त है। बालक जंगल में जाते हैं, कैम्प लगाते हैं, हाथ से लकड़ी काटते हैं, रोटी बनाते हैं, और यह सब-कुछ करते हुए बहुत-कुछ सीख जाते हैं। प्रोजेक्ट-शिक्षा-प्रणाली में बालक किसी रचनात्मक कार्य को सामने रखकर

खेल खेल में कर डालते हैं और पुस्तकें जो-कुछ नहीं सिखा सकतीं 'प्रोजेक्ट' उन्हें सिखा देते हैं।

'लड़ने झगड़ने के खेल' कबड्डी, कुश्ती, हाकी, फुटबॉल आदि हैं। ये बड़ों के खेल हैं, समूह में खेले जाते हैं और इनसे बालक इतना कुछ सीख जाता है जो दूसरी किसी तरह सीख ही नहीं सकता। मिलकर काम कैसे करना चाहिये, हार कर भी कैसे हँसते रहना चाहिये, जीवन फूलों की शय्या ही नहीं है, उसमें कांटे भी हैं, परन्तु कॉटों में उलझ कर भी उन्हें कैसे सुलझाना चाहिये—ये गुण कबड्डी, कुश्ती आदि खेलों से ही सीखे जाते हैं। नैल्सन ने वाटरलू का युद्ध क्रिकेट के मैदान में जीता था। कैसे ? क्योंकि युद्ध में जिन गुणों की आवश्यकता है, उसने वे खेल के मैदान में पाये थे।

'मानसिक खेल' तीन तरह के हैं : पहले, 'विचारात्मक' (Intellectual), जैसे, शतरंज, ताश, ड्राफ्ट। शब्द-रचना का खेल खेलते खेलते बालक शुद्ध हिज्जे सीख जाता है, शतरंज से युद्ध की चालें समझ में आ जाती हैं। दूसरे, 'उद्वेगात्मक' (Emotional), जैसे, नाटक खेलना। आजकल नाटक का शिक्षा में बड़ा स्थान है। इतिहास सिखाने का सर्वोत्तम उपाय ऐतिहासिक नाटकों को खेलना है। नाटक खेलने हुए घटनाएं बालक के मस्तिष्क पर अमिट छाप छोड़ जाती हैं। इसके साथ उन्हें स्पष्ट तथा उच्च स्वर से बोलना पड़ता है, वीर, रौद्र, हास्य रस के भावों को अभिव्यक्त करना पड़ता है। इससे बालक स्पष्ट बोलना सीख जाता है, भिन्न भिन्न भावावेशों को प्रकट करना उसे अनायास आ जाता है। तीसरे, 'कृत्यात्मक' (Volitional), जैसे, कोई हंसाने वाली कहानी कह कर न हंसने की शर्त लगा दी जाय, जो हस पड़े, वह हारा समझा जाय, जो न हंसे, वह जीता। इस से अपने को नियन्त्रित करने का अभ्यास हो जाता है।

बालक को खेल खेल में सब कुछ सिखाने के विषय में कई लोग आपत्ति करते हैं, और कहते हैं कि यह 'मृदु शिक्षा विज्ञान' (Soft Pedagogy) है, बालक को हमने जीवन में कठिनाइयों का सामना करने योग्य बनाना है, न कि हर एक बात को आसान बना कर उसे कठिन कार्य करने के सर्वथा अयोग्य बना देना है। कठिन कार्य करने का अभ्यास करा कर हम उसमें कठिन कार्य करने की 'शक्ति' उत्पन्न करनी चाहिए ताकि वह सब कठिन कार्यों को कर सके। परन्तु यह बात ठीक नहीं। आजकल का मनोविज्ञान मनुष्य के मन की इस प्रकार की भिन्न भिन्न 'शक्तियों' (Faculties) को नहीं मानता, इसलिए वह यह भी नहीं मानता कि कठिन विषयों के अभ्यास से कठिनाई का सामना करने की कोई 'शक्ति' उत्पन्न हो सकती है। असल बात तो यह है कि हमने बालक को शिक्षा देनी है और शिक्षा को खेल में जोड़ देना शिक्षा देने का सहल उपाय है। सब से पहले काल्डवेल कुक (Caldwell Cook) ने 'क्रीड़ा पद्धति' (Play way) शब्द का प्रयोग किया था। उसने देखा कि अंग्रेजी पढ़ाते हुए लड़कों का ध्यान पाठ की तरफ नहीं होता था। उसने शेक्सपीयर के नाटकों को बालकों से करवाना शुरु किया। फिर क्या था, अंग्रेजी पढ़ना उनके लिए खेल हो गया। इसी पद्धति को आज शिक्षा के हर क्षेत्र में घटाया जा रहा है, और खेल को शिक्षा के साथ जोड़कर अनेक शिक्षा प्रणालियाँ प्रचलित हो रही हैं। हम अगले अध्यायों में उन्हीं में से किंडरगारटन, मॉन्टीसरी, प्रोजेक्ट तथा बेसिक शिक्षा प्रणालियों का वर्णन करेंगे।

१४

किंडर-गारटन पद्धति

(KINDERGARTEN METHOD)

जर्मनी के शिक्षा-शास्त्री फ्रेडरिक फ्रोवेल (१७८२-१८५२) ने 'क्रिया द्वारा शिक्षा' (*Learning by doing*) तथा 'खेल द्वारा शिक्षा' (Learning by play way) के सिद्धान्तों को आधार बनाकर 'किंडर गारटन' पद्धति का निर्माण किया। उस का कथन था कि पाठशाला एक 'उद्यान' (garten) है जिस में 'बालक' (kinder) रूपी पौधा शिक्षक रूपी माली की देख-रेख में बढ़ता है। पौधे का विकास उसके आन्तरिक नियमों से होता है, इसी प्रकार बालक का विकास भी उसके आन्तरिक नियमों से होता है। शिक्षक का काम तो माली की तरह पौधे को उसके आन्तरिक नियमों के अनुसार बढ़ने देने में सहायता देना है।

वे नियम क्या हैं? इन नियमों के सम्बन्ध में विवेचना करते हुए फ्रोवेल ने एक दार्शनिक विचार-धारा को जन्म दिया था। उसका कथन था कि :—

फ्रोवेल की दार्शनिक विचार-धारा—

(१) विश्व में 'एकता' (Unity) का नियम काम कर रहा है। 'ईश्वर' (God), 'जीव' (Spirit) तथा 'प्रकृति' (Nature) में आधार-भूत तत्व 'एक' ही है। वह एकता का तत्व 'ईश्वर' है। 'ईश्वर' से ही 'जीव' तथा 'प्रकृति' का विकास होता है, यही

सब का आदि स्रोत है। भारत के वेदान्तियों का भी यही सिद्धान्त है।

(२) 'एकता' के अतिरिक्त दूसरा नियम 'विकास' का, 'वृद्धि' (Development) का नियम है। प्रत्येक वस्तु अपने आन्तरिक नियमों के अनुसार विकसित होती हुई उसी 'एकता' की तरफ जा रही है। 'एकता' से 'अनेकता' उत्पन्न होती है, परन्तु फिर इस 'अनेकता' की गति 'एकता' की तरफ हो रही है, संसार 'पूर्णता' की तरफ, 'ब्रह्म' की तरफ गतिमान् है।

(३) यह 'वृद्धि' (Development), यह 'पूर्णता' कैसे होती है? इस 'वृद्धि' का आधार 'आभ्यन्तर गति' (Self-activity) है। हम 'खेल द्वारा सीखने' के अध्याय में लिख आये हैं कि मनुष्य जन्म से ही ऐसी 'प्रेरणाओं' (Urges, Motivations) को लेकर पैदा होता है जो उसे हर समय कुछ-न-कुछ करने के लिये बाधित करती हैं। यह 'आभ्यन्तर-गति' मनुष्य को 'विकास' की तरफ, 'पूर्णता' की तरफ, 'ब्रह्म' की तरफ ले जाने के लिये है—यह फ्रोबेल का कथन है।

(४) 'आभ्यन्तर-गति' (Self activity) के पूर्ण विकसित होने का साधन 'समाज' (Social Institutions) है। परिवार में, स्कूल में, समाज में ही 'आभ्यन्तर-गति' अपने को विकसित करने के लिये उत्तेजित होती है, इकलेपन में 'आभ्यन्तर-गति' का वेग नहीं मिलता।

बालक को जब स्कूल में दूसरे बच्चों के साथ रखा जाता है तब उस की 'आभ्यन्तर गति' को उत्तेजना मिलती है। यह गति अपने को 'खेल' द्वारा प्रकट करती है। 'आभ्यन्तर गति' (Self activity) तथा 'खेल' (Play) द्वारा बालक का 'विकास' (Development) करना और उसे परमार्थ 'एकता' (Unity)

की तरफ ले जाना ही शिक्षा है। इस दृष्टि से फ्रोबेल का शिक्षा सम्बन्धी मुख्य सिद्धान्त बालक की 'आभ्यन्तर-गति' (Self-activity) को शिक्षा में मुख्य स्थान देना है। इस के अनुसार शिक्षक अपने को मुख्य रखे, उसे बालक को मुख्य रखना चाहिए, और बालक की 'आभ्यन्तर गति' को ठीक दिशा देने में सहायक होना चाहिए। बालक जो कुछ करे अपने आप करे, और अपने-आप करके सीखे।

इस उद्देश्य से फ्रोबेल ने बालकों के लिये कुछ खेलने की चीजें बनाई थीं जिन्हें वह 'उपहार' (Gifts) कहता था। इन 'उपहारों' (Gifts) से बालक खेलने लगता था। इन खेलों को वह बालक की 'क्रीड़ा' (Occupation) कहता था। इस प्रकार इन 'उपहारों' के साथ खेल में लगे रहने से उसे परिमाण, रंग, रूप, गिनती आदि का ज्ञान स्वयं खेलते-खेलते हो जाता था।

फ्रोबेल के 'उपहारों' (Gifts) की संख्या २० है, परन्तु उन में मुख्य ७ ही हैं और सात भी 'लम्ब-गोल' (Cylinder), 'गोल' (Sphere) और 'घन' (Cube)—इन तीन आकृतियों के ही भिन्न भिन्न रूप हैं।

सात उपहार (Gifts) निम्न हैं—

(१) पहले 'उपहार' में छः रंगदार ऊन की गेंदें हैं जो लाल, पीले, नीले, नारंगी, हरे, बैंजनी रंग की होती हैं। इन के साथ 'क्रीड़ा' (Occupation) का रूप है बालक इन गेंदों के साथ खेले। इस खेल में उसे रंग, रूप, गति, दिशा आदि का ज्ञान हो जाता है।

(२) दूसरे 'उपहार' में किसी कड़ी वस्तु के 'गोल (Sphere), 'घन' (Cube) तथा 'लम्ब गोल' (Cylinder) दिए जाते हैं जिन से उसे 'घन' की स्थिरता तथा 'गोल' की गति-शीलता

का परिचय प्राप्त होता है, और 'लम्ब गोल' में वह 'स्थिरता' तथा 'गति' दोनों को देखता है। इस 'उपहार' से उसे 'समानता' और 'भिन्नता' देखने का अभ्यास भी हो जाता है।

(३) तीसरे 'उपहार' में एक बड़ा 'घन' दिया जाता है जो ८ छोटे छोटे समान घनों से मिलकर बनता है। इन से वह अनेक उपयोगी उपकरण बनाता है, बेंच, सीढ़ी, दरवाजा, पुल बनाने लगता है। इस से उसे योग और ऋण के प्रारंभिक विचार भी मिल जाते हैं।

(४) चौथे 'उपहार' में बालक को एक 'घन' दिया जाता है जो ८ 'प्रिज्म' के मिलने से बनता है। 'प्रिज्म' और छोटे छोटे 'घनों' के मेल से वह कई चीजें बनाना सीख जाता है, और उसके ज्ञान में नवीनता आ जाने के कारण स्पष्टता आती जाती है।

(५) पाचवें 'उपहार' मे एक बड़ा 'घन' दिया जाता है जो २७ छोटे छोटे घनों से मिल कर बनता है। इनमें से तीन घन फिर आधे आधे हिस्सों मे, और तीन घन चौथाई हिस्सों मे फटे होते हैं। इतना सामान हो जाने पर बालक भिन्न भिन्न रचनाएं बनाता है, और 'आकृति' तथा 'संख्या' के ज्ञान म बहुत जल्दी उन्नति करता है। यह तीसरे 'उपहार' से लगभग मिलता है।

(६) छठे 'उपहार' मे एक बड़ा घन' दिया जाता है जो १८ बड़े और ६ छ टे 'विषम चतुर्भुजों' (Oblongs) से मिलकर बनता है। इससे आकृतियों की विविधता का उसे ज्ञान हो जाता है।

७) सातवें उपहार मे वर्ग' तथा 'त्रिभुज' दिये जाते हैं जिनसे वह ज्यामिति की भिन्न भिन्न शक्लें बनाना सीख जाता है। फ्रोबेल जानता था कि छोटे बच्चे 'खेल' (Play) को, और बड़े बालक 'काम' (Work) को पसन्द करते हैं। इसलिये बच्चों के खेलों के अतिरिक्त उसने बड़े बालकों के लिए कागज काटना,

धागे में मनके पिरोना, चटाई बुनना, टोकरी बनाना, मिट्टी से भिन्न भिन्न आकृतियां बनाना तथा खेती करने को भी 'उपहारों' में सम्मिलित किया है। शिक्षक को चाहिए कि बालकों से काम कराये, और काम कराते हुए जैसा काम हो उसके सम्बन्ध में कोई गाना गाये, गाने के भाव को प्रकट करने वाली क्रियाएं करता जाय, क्रियाओं को भी भाव-भङ्गी से जानदार बनाता जाय।

यद्यपि आज फ़्रोबेल के 'उपहारों' का प्रयोग नहीं किया जाता, तो भी फ्रोबेल ने शिक्षा के क्षेत्र में सदा के लिए स्थान बना लिया है। जगह-जगह किंडर गारटन स्कूल खुले हुए हैं। आज जो हाथ से काम करने पर, खेल द्वारा जिल्दसाजी, चमड़े, काग़ज़, मिट्टी के काम सिखाने पर, खेल द्वारा शिक्षा देने पर जोर दिया जाता है, स्कूल में बालकों से बग़ीचे लगवाये जाते हैं—यह सब फ़्रोबेल की ही विचार धारा का फल है। फ़्रोबेल प्रकृति को परमात्मा का ही एक रूप समझता था, और प्रकृति-पाठ को परमात्मा तक पहुँचाने का साधन मानता था। इसीलिए उसने 'प्रकृति पाठ' (Nature study) पर बल दिया, और उसी बल देने का परिणाम है कि आज हमारी पाठ-विधि में 'प्रकृति-पाठ' एक मुख्य विषय बन गया है।

gut १५

मॉन्टीसरी शिक्षा-पद्धति

(MONTESSORI METHOD)

मेरिया मॉन्टीसरी (१८७०-१६५२) इटली की रहने वाली थीं। उन्होंने 'हीन-बुद्धि' (Feeble-minded) बालकों की शिक्षा को हाथ में लिया और अपनी पद्धति के अनुसार शिक्षा दी। उन्होंने देखा कि जो बालक 'हीन-बुद्धि' कहे जाते थे, 'मॉन्टीसरी प्रणाली' के अनुसार शिक्षा पाने पर वे 'अच्छे-भले' (Normal) लड़कों के समान काम करते थे। उनके हृदय में प्रश्न हुआ कि 'अच्छे-भले' बालकों के साथ उनकी प्रणाली का प्रयोग *किया* जाय तब तो शायद वे और भी ज्यादा काम करेंगे। यह सोचकर उन्होंने अपनी पद्धति का 'अच्छे भले' बालकों पर प्रयोग शुरू किया और देखा कि इसका बालक को शिक्षा देने में चमत्कार-पूर्ण प्रभाव था।

१—मॉन्टीसरी के शिक्षा-सिद्धान्त

मॉन्टीसरी ने फ्रोबल की 'क्रीड़ा तथा क्रिया' (Play and Activity) को आधार बना कर चलने वाली किंडर गार्टन-पद्धति को ही परिमार्जित कर उसे नवीन रूप दिया। 'मॉन्टीसरी-पद्धति' के शिक्षा-सिद्धान्त निम्न हैं :—

(१) शिक्षा, 'विकास' (Development) का नाम है। बालक के जन्म-काल से ही उसके भीतर अपने पूर्ण विकास का सामर्थ्य रहता है, ठीक इस तरह जैसे वृक्ष के रूप में विकसित

होने का सामर्थ्य बीज में रहता है। बीज अपनी 'आभ्यन्तर गति' से बढ़ता है, बालक भी उसी 'आभ्यान्तर-गति' से विकसित होता है। माली का काम पौधे को पकड़ कर बढ़ाना नहीं, शिक्षक का काम भी बालक को जबर्दस्ती ठोक-पीट कर पंडित बनाना नहीं। उसका अन्दर से विकास हो रहा होता है, और शिक्षक उस विकास में सहायक मात्र है।

(२) विकास 'स्वतन्त्रता' (Freedom) पर आश्रित है क्योंकि बालक के विकास का बीज उसके भीतर मौजूद है, इस लिए उसके विकसित होने के लिए उसे पूर्ण 'स्वतन्त्रता' मिलनी चाहिए, नियन्त्रण का बोझ डाल कर उसके स्वतन्त्र विकास को रोकना नहीं चाहिए। परन्तु स्वतन्त्रता किस प्रकार की दी जाय इसे भी मॉन्टीसरी ने स्पष्ट किया है। बालक में जो मूलभूत 'प्राकृतिक-शक्तियाँ तथा प्रवृत्तियाँ' (Instincts and Tendencies) हैं उनके अनुसार उसे स्वतन्त्रता-पूर्वक चलने देना, और उन प्रवृत्तियों को दबाने के स्थान पर उन्हें शिक्षा का आधार बनाना ही वास्तविक स्वतन्त्रता है। पाठशाला में बालक को घर की-सी स्वतन्त्रता मिलना चाहिए तभी उसका विकास उस दिशा की तरफ होगा जिसकी तरफ चलने के लिए उसका जन्म हुआ है।

(३) बालक के 'व्यक्तित्व' (Individuality) का ध्यान रखना हमारा मुख्य कर्तव्य है। अगर बालक का स्वतंत्र विकास होने दिया जाय तो प्रत्येक बालक का अपने पृथक्-पृथक् 'व्यक्तित्व' के अनुसार पृथक् पृथक् विकास होता है। आज समूह में शिक्षा देकर उसके 'व्यक्तित्व' को कुचल दिया जाता है। जिस समय पाठशाला में सब बालकों को एक लकड़ी से हाँका जा रहा था उस समय मॉन्टीसरी ने बालक के 'व्यक्तित्व' की आवाज उठाकर एक नवीन दिशा की तरफ संकेत किया।

(४) मॉन्टीसरी ने 'आत्म शिक्षण' (Auto-education, Self-education) पर बल दिया। शिक्षक बालक के विकास में इतना अधिक हस्तक्षेप करता है कि बालक के लिए आत्म विकास असम्भव सा हो जाता है। इस पद्धति में शिक्षक को स्थान नहीं है, बालक अपने-आप शिक्षा ग्रहण करता है, शिक्षक तो उसके सामने सिर्फ उपकरण रख देता है। मॉन्टीसरी ने इन 'शिक्षोप करणों' (Didactic appratus) का निर्माण इस ढंग से किया है कि उनका प्रयोग एक ही प्रकार से हो सकता है, दूसरी प्रकार से नहीं। एक लकड़ी में तीन छेद हैं। प्रत्येक छेद में एक ही परिमाण की खूटी आ सकती है। अगर वह बड़े छेद में पतली खूटी डाल देता है, तो अन्त में छोटे छेद के लिए मोटी लकड़ी बच रहती है जो उसमें नहीं आ सकती—झट वह अपनी गलती समझ कर उसे सुधार लेता है। इन उपकरणों की सहायता से बालक स्वय अपना गुरु बन जाता है।

(५) 'कर्मेन्द्रियों की शिक्षा' (Muscular training) पर भी मॉन्टीसरी बहुत बल देती है। बालक के अंगों की भिन्न-भिन्न मांस-पेशियों को जब तक साधा न जाय तब तक उसे सब कामों में कठिनाई प्रतीत होती है, इनके साधने से लिखना, चलना, दौड़ना आसान हो जाता है, और वह छोटी ही आयु में सब कुछ सीख जाता है।

(६) 'ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा' (Sense training) भी ज्ञान के लिए आवश्यक है। ज्ञानेन्द्रियाँ ही तो हमें ज्ञान पहुँचाने के मार्ग हैं, ये कमजोर हुईं तो ज्ञान में अस्पष्टता रहती है। मॉन्टीसरी का कथन है कि ७ वर्ष की आयु में बालक की ज्ञानेन्द्रियाँ बहुत क्रिया-शील रहती हैं और इसी समय वह बहुत सा ज्ञान बटोर लेता है। इन्द्रियों को साधने के लिए उसने ऐसे अभ्यास

'नेत्रेंद्रिय' को साधने के लिए एक ही आकार प्रकार की भिन्न-भिन्न रंगों की टिकियां बनायी जाती हैं, जो और सब बातों में एक-सी, सिर्फ रंग में भिन्न भिन्न होती हैं। एक रंग की टिकी इसे दे दी जाती है, और वैसी ही दूसरी निकालने को कहा जाता है। इस प्रकार अन्य ज्ञानेन्द्रियों को साधा जाता है।

मॉन्टीसरी का कथन है कि इस प्रकार इन्द्रियों को साधने के दो उद्देश्य हैं। एक तो यह कि प्रत्येक इन्द्रिय को ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने का अभ्यास हो जाता है। हमारे ज्ञान में अपूर्णता इसलिए रहती है क्योंकि हम इन्द्रियों से अधकचरा ज्ञान प्राप्त करने के आदी हैं। दूसरा लाभ यह है कि इन्द्रियों को साधने से सिर्फ इन्द्रियाँ ही नहीं सधतीं, मनुष्य की सम्पूर्ण बुद्धि का विकास होता है; एक इन्द्रिय को सधी हुई 'शक्ति' (Faculty) सब इन्द्रियों को, बुद्धि मात्र को 'शक्तिदान' करती है। यह एक तरह का बौद्धिक व्यायाम है।

भाषा की शिक्षा—

भाषा की शिक्षा में 'लिखना' तथा 'पढ़ना'—ये दो चीजें आती हैं। मॉन्टीसरी का कथन है कि 'लिखना' पहले सिखाना चाहिए। लिखने में दो बातें हैं, कलम पेंसिल आदि लिखने के साधन को पकड़ कर उसे ठीक-ठीक चलाना सीखना, और अक्षर लिखना। कर्मेन्द्रियों की शिक्षा से बालक को मांस-पेशियों को ठीक गति करने का अभ्यास तो पहले ही कराया जा चुका होता है, अब उसके हाथ में पेंसल देकर ज्यामिति के उपकरणों के बीच के भाग में पेंसल फेरने को कहा जाता है। क्योंकि उपकरणों के बीच में निश्चित स्थान होता है इसलिए बालक उतनी ही पेंसल फेरता है जितना पेंसल फेरने के लिए स्थान है, यों ही इधर उधर उसे नहीं चलाता।

छोटे उद्यान। इन घरों में बालक की कर्मेंद्रियों को साधने की सब शिक्षा दी जाती है। चलने फिरने जैसी छोटी छोटी बातों से लेकर, अपने से सम्बन्ध रखने वाली, तथा दूसरों से सम्बन्ध रखने वाली सभी क्रियायें सिखा दी जाती हैं। कपड़ा पहनना, उतारना, अपनी हरेक चीज को क्रम से, सभालकर रखना, खाना परोसना आदि सब काम बच्चे अपने आप सीख जाते हैं, और तीन वर्ष की आयु में इस चतुराई से करने लगते हैं जो बड़े भी नहीं कर सकते। कहा जाता है कि मॉन्टीसरी स्कूल के अढ़ाई वर्ष के बालक भी चाय परोसते हुए भरे हुए प्याले की चाय न गिरने देते हैं, न प्याला तोड़ते हैं।

ज्ञानेंद्रियों की शिक्षा—

'ज्ञानेन्द्रियों' की शिक्षा के लिये मॉन्टीसरी ने 'शिक्षोपकरण' (Didactic apparatus) बनाये हैं जिनका निर्माण इस ढंग से हुआ है कि एक उपकरण से एक ही प्रकार का काम हो सके, दूसरा न हो सके। इसका परिणाम यह होता है कि बालक को कहने की आवश्यकता नहीं होती, ऐसा न करो, ऐसा करो। उपकरण स्वयं उसे कह देता है, ऐसा करो! ये 'उपकरण' फ्रोबेल के 'उपहारों' के परिष्कृत रूप के हैं।

'स्पर्शेंद्रिय' को साधने के लिए एक डिब्बे में ऊनी, रेशमी, मखमली, खद्दर के दो-दो रूमाल रख दिये जाते हैं। सब का रंग-रूप आकार प्रकार एक सा रहता है, इससे बालक का ध्यान स्पर्श की तरफ ही जाता है, दूसरी तरफ नहीं। उसे एक रूमाल निकाल कर दे दिया जाता है और वैसा ही दूसरा रूमाल निकालने को कहा जाता है। वह स्पर्श से वैसा ही रूमाल निकालता है, इससे स्पर्श-शक्ति सध जाती है।

'नेत्रेंद्रिय' को साधने के लिए एक ही आकार प्रकार की भिन्न-भिन्न रंगों की टिकियां बनायी जाती हैं, जो और सब बातों में एक-सी, सिर्फ रंग में भिन्न भिन्न होती हैं। एक रंग की टिकी उसे दे दी जाती है, और वैसी ही दूसरी निकालने को कहा जाता है। इस प्रकार अन्य ज्ञानेन्द्रियों को साधा जाता है।

मॉन्टीसरी का कथन है कि इस प्रकार इन्द्रियों को साधने के दो उद्देश्य हैं। एक तो यह कि प्रत्येक इन्द्रिय को ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने का अभ्यास हो जाता है। हमारे ज्ञान में अपूर्णता इसलिए रहती है क्योंकि हम इन्द्रियों से अधकचरा ज्ञान प्राप्त करने के आदी हैं। दूसरा लाभ यह है कि इन्द्रियों को साधने से सिर्फ इन्द्रियाँ ही नहीं सधतीं, मनुष्य की सम्पूर्ण बुद्धि का विकास होता है; एक इन्द्रिय को सधी हुई 'शक्ति' (Faculty) सब इन्द्रियों को, बुद्धि मात्र को 'शक्तिदान' करती है। यह एक तरह का बौद्धिक व्यायाम है।

भाषा की शिक्षा—

भाषा की शिक्षा में 'लिखना' तथा 'पढ़ना'—ये दो चीजें आती हैं। मॉन्टीसरी का कथन है कि 'लिखना' पहले सिखाना चाहिए। लिखने में दो बातें हैं, कलम पेंसल आदि लिखने के साधन को पकड़ कर उसे ठीक-ठीक चलाना सीखना, और अक्षर लिखना। कर्मेन्द्रियों की शिक्षा से बालक की मांस-पेशियों को ठीक गति करने का अभ्यास तो पहले ही कराया जा चुका होता है, अब उसके हाथ में पेंसल देकर ज्यामिति के उपकरणों के बीच के भाग में पेंसल फेरने को कहा जाता है। क्योंकि उपकरणों के बीच में निश्चित स्थान होता है इसलिए बालक उतनी ही पेंसल फेरता है जितना पेंसल फेरने के लिए स्थान है, यों ही इधर उधर उसे नहीं चलाता।

जब पेंसल फेरते-फेरते उसकी मांस-पेशियां सध जाती हैं, और वह पेंसल पकड़ना सीख जाता है, तब उसे अक्षर लिखना सिखाया जाता है। शिक्षिका उसके सामने गत्ते का बना अक्षर रख कर उस पर उंगली फेरने को कहती है। वह उंगली फेरता जाता है, और उसी समय वह उस अक्षर को बोलती जाती है। अक्षर को लिखना सीखने में हाथ काम कर रहा होता है, आंख काम कर रही होती है, कान भी काम कर रहा होता है। इन तीनों इन्द्रियों के इकट्ठा काम करने का परिणाम यह होता है कि लिखना तो वह सीख ही रहा होता है, पढ़ना भी वह उसी समय सीख जाता है। इस तरह से बिना सिखाये पढ़ना सीख जाता है। मॉन्टीसरी का कथन है कि यह एक आश्चर्य की बात है कि उसकी पद्धति के अनुसार बालक 'लिखना' सीख रहा होता है, 'पढ़ना' नहीं, परन्तु लिखना सीखते-सीखते वह एकदम पढ़ना स्वयं सीख जाता है।

मॉन्टीसरी पद्धति के आलोचकों का कथन है कि 'शिक्षोपकरण' (Didactic apparatus) इतने महंगे हैं कि उन्हें हर स्कूल नहीं रख सकता। इसके अतिरिक्त मॉन्टीसरी का 'बौद्धिक-व्यायाम' का विचार 'शक्ति मनोविज्ञान' (Faculty Psychology) का विचार है जिसे आज का मनोविज्ञान स्वीकार नहीं करता। इस सम्बन्ध में हमारे 'शिक्षा मनोविज्ञान' का पृ. २६-२७ पढ़ें। अन्यथा यह पद्धति बच्चों की शिक्षा के लिए बहुत उपयोगी है।

३—किंडर-गारटन और मॉन्टीसरी पद्धति की तुलना

समानता

किंडर-गारटन-पद्धति	मॉन्टीसरी-पद्धति
१—तीन से सात वर्ष के बालकों	१—तीन से सात वर्ष के बालकों

की शिक्षा का प्रबन्ध किया जाता है।	की शिक्षा का प्रबन्ध किया जाता है।
२—बालक के आन्तरिक विकास के लिए 'उपहार' (Gifts) का प्रयोग होता है।	२—बालक के आन्तरिक विकास के लिए 'शिक्षोपकरण' (Didactic apparatus) का प्रयोग होता है।
३—इन्द्रियों की साधना (Sense training) पर बल दिया जाता है।	३—इन्द्रियों की साधना पर बल दिया जाता है।

भिन्नता

१—बालक को 'सामाजिक' वातावरण में, दूसरे बच्चों के साथ शिक्षा दी जाती है।	१—बालक को 'वैयक्तिक' रूप में शिक्षा दी जाती है।
२—फ्रोबेल के 'उपहारों' के बिना भी वैसे उपकरण बना कर शिक्षा दी जा सकती है और दी जाती है।	२—मॉन्टीसरी के 'शिक्षोपकरणों' के बिना शिक्षा नहीं दी जा सकती।
३—'खेल' इस शिक्षा का आधार है। 'संगीत' (Song), 'गति' (Movement) तथा 'भाव-गति' (Gesture) द्वारा खेल अभिव्यक्त होता है।	३—'खेल' पर विशेष बल नहीं दिया जाता। 'शिक्षोपकरण' ही ऐसे बनाये गये हैं जिनमें बालक लगा रहता है, और वे ही उसकी ग़लती उसे बता देते हैं।

१६

योजना-पद्धति

(PROJECT METHOD)

हम पहले एक अध्याय में 'कार्य सिद्धि वाद' (Pragmatism) का उल्लेख कर आये हैं। जीवन में सत्य क्या है यह निश्चित रूप से कौन कह सकता है? हाँ, जो बात उपयोगी सिद्ध हो, काम दे, वह सत्य अवश्य है, क्योंकि उससे कोई प्रयोजन सिद्ध होता है, मतलब निकलता है, क्रिया सिद्ध होती है। इस 'वाद' के मुख्य समर्थक अमरीका के जॉन ड्यूई (१८५६) हैं। उनके अनुयायी किलपैट्रिक (Kilpatrich) ने शिक्षा के क्षेत्र में कार्य सिद्धि-वाद को घटाकर 'योजना-पद्धति' (Project method) को जन्म दिया है।

१—योजना-पद्धति का मनोवैज्ञानिक आधार

इस पद्धति का समर्थन करने वालों का कथन है कि प्रचलित शिक्षा का जीवन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई देता, कोई उपयोगिता नहीं दिखाई देती। स्कूल में गणित के बड़े बड़े प्रश्न हल करने पर भी हमारे बालक बनिये से सौदा खरीदते हुए ठीक हिसाब नहीं लगा सकते, दार्शनिक तत्व-विवेचना करने पर भी पोस्ट आफिस से पार्सल भेजना नहीं जानते। शिक्षा अव्यावहारिक होती चली जा रही है, उसका जीवन से कोई सम्बन्ध दिखाई

नहीं देता। इस समस्या को हल करने के लिये उन्होंने 'योजना-पद्धति' (Project method) का आविष्कार किया है। उनका कथन है कि हम दो प्रकार से काम करते हैं, या तो पहले से 'योजना' बनाकर, या बिना किसी योजना के। जो काम हम पहले से 'योजना' बनाये बिना करते हैं, वे ठीक से नहीं हो पाते, जिनके लिये हम योजना बना लेते हैं, वे ठीक से हो जाते हैं। 'योजना' वाले काम भी दो तरह के हैं। एक तो वे जिनमें 'योजना' का हमारे अपने जीवन की किसी समस्या को हल करने से सम्बन्ध नहीं होता, दूसरे वे जिनका जीवन की वास्तविक समस्या को हल करने के साथ सम्बन्ध होता है। पाठशाला में लड़कियों को कातना सिखाया जाता है। वे सीख तो जाती हैं, परन्तु आधी से ज्यादा रुई खराब कर देती हैं, धागे जगह-जगह से तोड़ देती हैं। अब अगर उन्हें कह दिया जाय कि जो रुई ये कातेंगी उसकी उन्हें अपने लिये साड़ी बनवा दी जायगी, तो उतने ही समय में ये पहले से चौगुनी रुई कात लेंगी, एक-एक धागा सभाल कर रखेंगी, और बहुत जल्दी सीख जायेंगी। कारण यह है कि पहली 'योजना' का जीवन की किसी समस्या के साथ सम्बन्ध नहीं था, दूसरी 'योजना' का जीवन की वास्तविक समस्या के साथ सम्बन्ध जोड़ दिया गया। जब कोई 'योजना' (Project) जीवन की वास्तविक समस्या के साथ जुड़ जाती है, तब यह हम में एक अपूर्व शक्ति उत्पन्न कर देती है, और हम उस 'योजना' को पूरा करके ही दम लेते हैं। इस के निम्न मनोवैज्ञानिक कारण हैं :—

१—'योजना' में 'प्रयोजन' (Purpose) रहता है।

२—'आप-से-आप-पना' (Spontaneity) रहता है।

३—काम में 'सार्थकता' (Significance) दीखती है।

४—काम में 'रुचि' (*Interest*) उत्पन्न हो जाती है।

'प्रयोजन' (Purpose, Motive)—

किसी काम को करते समय अगर मन में 'प्रयोजन' उत्पन्न हो जाय तो मनुष्य उसे हल करने में जी जान से जुट जाता है, यह मनोवैज्ञानिक नियम है। 'प्रयोजन' का उत्पन्न करने का अर्थ है जीवन की किसी 'समस्या' (Problem) का उत्पन्न कर देना। यह स्मरण रखना चाहिये कि जो समस्या जीवन की वास्तविक समस्या होगी, काल्पनिक नहीं होगी, वही व्यक्ति को सिर से पैर तक हिलाकर काम में भूत की तरह लगा देगी। मैगडूगल का कथन है कि जब मन में कोई वास्तविक समस्या उत्पन्न हो जाती है, तो मनुष्य उसका कोई न कोई हल ढूंढ़ता ही फरता है। यह समस्या जीवन में एक विषमता उत्पन्न कर देती है। चलते फिरते, सोते-जागते हम अपनी परिस्थिति से अपने को कटा हुआ सा अनुभव करते हैं। हमारे और हमारी परिस्थिति के बीच यह सदा 'अटकाव' के रूप में बनी रहती है। मनुष्य इस 'विषमता', इस 'अटकाव' को दूर करके ही शान्त हो सकता है। 'योजना' (Project) में 'प्रयोजन' (Purpose, Motive) का उत्पन्न हो जाना एक 'विषमता' का, एक 'प्रश्न' का, एक 'समस्या' का उत्पन्न हो जाना है, और मनुष्य का यह स्वभाव है कि ऐसी परिस्थिति में समस्या को हल करने के लिए उसमें अभूतपूर्व शक्ति उत्पन्न हो जाती है। 'योजना-पद्धति' (Project method) में इसी कारण बालक के सम्मुख एक ऐसा 'प्रयोजन' (Purpose) रख दिया जाता है जिसका जीवन के साथ घनिष्ट सम्बन्ध होता है, फिर वह उसे अपनी 'समस्या' समझता है, और उसके हल करने में दिन रात एक कर देता है।

'आप-से आप-पन' (Spontaneity)—

जब कोई समस्या वास्तविक समस्या होती है तब उसके

हल करने में किसी बाहर की प्रेरणा की आवश्यकता नहीं रहती, तब मनुष्य अपने-आप उसमें जुटा रहता है। स्कूलों में लड़कियों से बिनाई सिखाने के लिये स्वेटर बिनवाये जाते हैं, वे उसमें बीस हील हुज्जत करती हैं, परन्तु अपने घरवालों के स्वेटर चोरी-चोरी स्कूल के घण्टों में ही बिनती रहती हैं। एक ही काम है, परन्तु जब तक वह स्कूल की तरफ से कराया जाता है, वे नहीं करतीं, जब अपना समझ कर करती हैं, तब मना करने पर भी नहीं मानतीं। 'योजना-पद्धति' (Project method) में भी बालक अपनी 'योजना' (Project) अपने आप बनाते हैं, उसे स्वयं चुनते हैं, इसलिये भी वे उस में लगे रहते हैं।

'सार्थकता' (Significance) तथा 'रुचि' (Interest)—

जब हम अपनी चुनी हुई 'समस्या' को हल करने में लगे होते हैं तब हमें अपना काम 'सार्थक' दिखाई देता है। आज हमारे बालक जो कुछ पढ़ते हैं उन्हें समझ नहीं पड़ता कि वे उस विषय को क्यों पढ़ते हैं ? उन्हें पढ़ाया जाता है इसलिये वे पढ़ते हैं। जब बालक को मालूम हो कि वह किसी काम को क्यों कर रहा है, तब उसकी सम्पूर्ण शक्ति उस काम को करने में केन्द्रित हो जाती है, और काम करने में 'रुचि' भी उत्पन्न होती है। गहरी दृष्टि से विचार किया जाय तो 'प्रयोजन' का उत्पन्न होना ही अपने-आप 'सार्थकता' तथा 'रुचि' को उत्पन्न कर देता है।

२—'योजना' बनाने के आवश्यक अंग

'योजना-पद्धति' में पाँच बातों पर ध्यान देना आवश्यक है :—

क—बालकों के सम्मुख भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ उत्पन्न करना जिनमें से वह अनेक योजनाएँ बना सकें।

ख—इन अनेक योजनाओं में से किसी एक को चुनना।

ग—चुनने के बाद उसे पूर्ण करने का कार्य-क्रम बनाना।

घ—फिर पूर्ण करने में लग जाना।

ङ—पूर्ण करने के बाद यह निर्णय करना कि 'योजना' ठीक तौर पर पूरी हुई है या नहीं।

भिन्न-भिन्न परिस्थियाँ उत्पन्न करना—

हम बालकों को नुमाइश में घूमने ले गये, वे लौटकर कहने लगे, हम तो स्कूल में नुमाइश करेंगे। महाराणा प्रताप का जीवन-चरित्र सुनते सुनते बालकों के हृदय में भावना उठी, हम तो प्रताप का नाटक खेलेंगे। भिन्न भिन्न परिस्थितियों से ये भिन्न भिन्न 'योजनाएं' (Projects) बालकों के मन में अपने-आप उठीं। शिक्षक का काम बालकों के सम्मुख ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देना है जिनसे उन्हें 'योजनाएं' स्वयं सूझें।

भिन्न-भिन्न योजनाओं में से किसी एक को चुनना—

इन योजनाओं में से किसी एक को चुनने का काम बालकों का है। प्रायः अध्यापक योजना चुनने के प्रलोभन में पड़ जाते हैं। यह 'योजना पद्धति' के नियमों के विरुद्ध है। बालक जितना यह अनुभव करेंगे कि 'योजना' उनकी अपनी चुनी हुई है उतना ही उसे पूरा करने में वे तन्मय हो जायेंगे। बालकों को ही अपनी योजना चुनने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिये। अध्यापक को यह देख लेना चाहिए कि जिस 'योजना' को बालक चुनें उसका उनके जीवन से कोई वास्तविक सम्बन्ध हो, नहीं तो वह 'योजना' को वे बीच में ही अधूरा छोड़ देंगे।

'योजना' को पूर्ण करने का कार्य-क्रम बनाना—

'योजना' बन जाने के बाद उसे क्रियान्वित करने का कार्य-क्रम बनाना होता है। अध्यापक के लिए यह देखना आवश्यक है कि प्रत्येक बालक को कोई-न-कोई काम मिले, ऐसा न हो कि

कई बालक तो सब-कुछ करते जाँय, कई खाली ताकते ही रहें। प्रत्येक बालक को जो कार्य करना हो वह उसे लिखा देना चाहिए।

'योजना' को पूर्ण करने में लग जाना—

प्रत्येक बालक को उसकी योग्यता के अनुसार काम देना चाहिये। कभी-कभी शिक्षक समय बचाने के लिये अधिक काम बालक के स्थान में स्वयं करने लगता है, ऐसा नहीं करना चाहिये। 'योजना पद्धति' में बालक 'क्रिया द्वारा सीखने' (Learning by doing) के सिद्धान्त से सीख रहा होता है। अगर शिक्षक ही सब-कुछ करने लगे तो बालक क्या सीखेगा ? 'योजना' को पूर्ण करने में ही सब से अधिक समय लगता है। अधिक समय लगता देख कर शिक्षक को उतावला नहीं होना चाहिए। 'योजना' को पूर्ण करने में बालक जितनी देर तक लगे रहेंगे उतना ही कुछ-न-कुछ सीखते रहेंगे।

'योजना' का निर्णय—

'योजना' पूर्ण होने के बाद सब बालकों को उस पर अपनी सम्मति प्रकट करनी चाहिए—अपना 'निर्णय' देना चाहिए, 'योजना' जैसी चाहिए थी वैसी बनी, या नहीं बनी, क्या दोष रह गये, 'योजना' को पूर्ण करते-करते उन्होंने और क्या कुछ सीख लिया।

इस सम्बन्ध में यह लिख देना आवश्यक है कि किसी भी 'योजना' को पूर्ण करते-करते बालक एक नहीं, अनेक बातें सीख जाते हैं। हम पहले 'सानुबन्ध शिक्षा' (Correlation of Studies) पर लिख आये हैं। 'योजना-पद्धति' में 'सानुबन्ध शिक्षा' का सिद्धान्त बहुत अधिक स्पष्ट होता है। बाजार लगाने की 'योजना' को पूरा करने में बालक खरीदने-बेचने का हिसाब रखने

से गणित, उस सबका वर्णन लिखने से निबन्ध-लेखन, एवं बाज़ार से सम्बन्ध रखने वाली अनेक बातें सीख जाते हैं।

३—'योजना-पद्धति' का उदाहरण

श्रीयुत स्टोन ने पोस्ट आफ़िस से पासल भेजने की एक योजना का उल्लेख किया है, जिसमे समझ आ जायगा कि इस पद्धति द्वारा किस प्रकार बालक सीखते हैं। बहुत वाद विवाद के बाद बालकों ने तय किया कि किसी अनाथालय के बालकों को भेट के रूप में कुछ पार्सल भेजेंगे। हाथ से काम सिखाने के घंटे में उन्होंने काग़ज़ मोड़ना, पार्सल पर ठीक से लपेटना, तागे से बाँधना आदि सीखा। सब लोग ठीक से पार्सल भी तो नहीं बाँध सकते। भाषा सीखने के अन्तर मे उन्होंने पते लिखना सीखा। गणित के अन्तर में पार्सल को तोलना, कितने वज़न पर कितना टिकट लगता है, विदेश भेजने मे कितना व्यय होता है, सवारी गाड़ी, माल गाड़ी या हवाई जहाज़ से भेजने में क्या भेद है, कितने पैसे लगेंगे, कितने बच रहेंगे—यह सब कुछ सीखा। जहाँ जहाँ पार्सल भेजना है, वह शहर किस ज़िले में हैं, यह भूगोल के अन्तर में सीखा। अनाथालय के बच्चों को किसी ने मिट्टी के खिलौने बना कर, किसी ने स्वेटर बना कर भेजे, किसी ने टिकटें इकट्ठी करके भेजीं। इन चीज़ों को बनाना, इकट्ठा करना वे अपने-अपने अन्तर में सीख गये। अनाथालय के बालकों को उन्होंने पत्र लिखे, उनसे उत्तर माँगा। लिखने के अन्तर मे उन्होंने पत्र लिखना सीख लिया।

इस पद्धति ने शिक्षा को जीवन की समस्याओं के साथ जोड़ कर व्यावहारिक बना दिया है, जो कुछ पढ़ाया जाता है उसका आपस में सम्बन्ध भी बाँध दिया है, परन्तु इसके समालोचकों का य

कथन है कि इस प्रकार सिखाने से शिक्षा में कोई क्रम नहीं रहता, जो 'योजना' बनती है उसमें वे ही बातें सिखायी जा सकती हैं जो उसमें काम आती हैं, दूसरी नहीं। ऐसी अनेक बातें हैं जो शिक्षा का अंग हैं, परन्तु 'योजना' में नहीं आतीं। इस पद्धति के समर्थक इसका यही उत्तर देते हैं कि ऐसे विषयों की अलग-से शिक्षा देने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं।

'योजना-पद्धति' छोटे बालकों के लिए प्रयोग में लायी जाती है, बड़े बालकों के लिए इसी पद्धति के आधार-भूत नियमों को लेकर 'डाल्टन-पद्धति' का निर्माण हुआ है। अगले अध्याय में हम 'डाल्टन-पद्धति' की चर्चा करेंगे।

Book

१७

डाल्टन-पद्धति

(DALTAN PLAN)

अमेरिका के डाल्टन नगर में मिस हेलेन पार्कहर्स्ट ने १६१३ में इस पद्धति को जन्म दिया। 'समूह शिक्षा' (Class teaching) में जिन दोषों का हम पहले वर्णन कर आये हैं उन्हें दूर करने के लिए 'समूह शिक्षा' के प्रति विद्रोह के रूप में, 'व्यक्ति-गत' (Individual) शिक्षा देने के लिए इस पद्धति का निर्माण हुआ। 'डाल्टन-पद्धति' के आधार भूत सिद्धान्त निम्न हैं :—

(१) बालक को कक्षा के बन्धन से मुक्त कर दिया जाय। जिस चीज में उसकी रुचि हो उसे पढ़े, जब चाहे पढ़े, जितना चाहे पढ़े, उसके लिए कक्षा का बन्धन नहीं, विषय का बन्धन नहीं, समय विभाग का बन्धन नहीं। इससे जिम्मेदारी अध्यापक पर न रह कर विद्यार्थी पर आ पड़ती है। मनुष्य का स्वभाव है कि 'स्वतन्त्रता' न मिलने पर वह 'उच्छृङ्खल' हो जाता है, 'स्वतन्त्रता' मिलने पर अपने को बन्धन में बांधने लगता है। इसलिये डाल्टन स्कूलों में नियन्त्रण का प्रश्न नहीं होता।

(२) कक्षा के बन्धन से मुक्त होकर बालक के 'व्यक्तित्व' का विकास होता है, परन्तु 'व्यक्तित्व' के विकास के साथ साथ उसका अन्य सबके साथ मिलकर, उनके सहयोग से काम करना भी सीखना है, इसलिए आधे समय उन्हें इकट्ठा काम करने को कहा

जाता है, बाकी आधे समय मे वे मिलकर काम करते हैं। 'समूह-शिक्षा' में 'प्रतिस्पर्धा' (Competition) से बालक काम करता है, 'व्यक्ति-गत शिक्षा प्रणाली' के आधार पर बनी 'डाल्टन-पद्धति' में वह दूसरों के 'सहयोग' (Co operation) से काम करना सीखता है।

(३) 'डाल्टन-पद्धति' में बालक के सन्मुख 'लक्ष्य' बिल्कुल स्पष्ट करके रख दिया जाता है। जैसे 'योजना-पद्धति' में 'समस्या' को सामने रखकर उसे समझा दिया जाता है, इसी प्रकार 'डाल्टन-पद्धति' में 'समस्या' समझाकर, स्पष्ट करके बालक के सन्मुख रख दी जाती है। 'समस्या', 'प्रश्न', 'लक्ष्य' को सामने देखकर बालक उसे हल करने में जुट जाता है, यह मनोवैज्ञानिक नियम है।

डाल्टन-प्रणाली

'डाल्टन प्रणाली' से किस प्रकार कार्य होता है, इस बात को समझने के लिये निम्न शब्दों को समझ लेना आवश्यक है :—

१—पाठ का ठेका (Contract)
२—निर्दिष्ट-पाठ (Assignment)
३—इकाई (Unit)
४—प्रयोग-शालाएं (Laboratories)
५—गति-सूचक रेखा-चित्र (Graph)
६—सम्मेलन (Conference)
७—विमर्श-सभा (Assembly)

पाठ का ठेका—

प्रत्येक बालक को वर्ष भर में एक निश्चित पाठ तय्यार करना होता है। इस पाठ को एक एक मास के हिसाब से १२ हिस्सों में बांट दिया जाता है। एक मास में जितना पाठ तय्यार करना होता

है, उतने का विद्यार्थी को 'ठेका' करना होता है, और लिख कर देना होता है कि वह महीने भर में अपनी सुविधा के अनुसार अपने 'ठेके' को पूरा कर देगा।

निर्दिष्ट पाठ—

प्रत्येक मास में ठेके का जो पाठ होता है उसे कुछ भागों में बाँट दिया जाता है। शिक्षक लिखकर देता है कि इस मास में अमुक अमुक पुस्तक को पढ़ना है, अमुक अमुक चित्र देखने हैं। ठेके के इन निर्देशों को 'निर्दिष्ट पाठ' (Assignment) कहा जाता है। महीने भर के काम को 'ठेका' और प्रत्येक सप्ताह के कार्य को 'निर्दिष्ट-पाठ' कहते हैं। ठेके में चार सप्ताह होने के कारण 'निर्दिष्ट पाठ' (Assignment) भी चार ही होते हैं। महीने भर का निर्दिष्ट पाठ लिखकर बालक को देना शिक्षक का काम है।

भाग—

प्रत्येक निर्दिष्ट पाठ (Assignment) को 'भाग' (Part) कहा जाता है। महीने में चार निर्दिष्ट पाठ रहते हैं अतः चार ही 'भाग' रहते हैं। प्रत्येक भाग (Assignment or Part) के पाँच उप विभाग (Minor part) किये जाते हैं, और एक एक उप विभाग को 'इकाई' (Unit) कहा जाता है। महीने भर के ठेके (Contract) में ४ निर्दिष्ट पाठ (Assignment), और एक एक निर्दिष्ट पाठ में ५ इकाइयाँ (Units) रहती हैं, इस प्रकार सारे ठेके में, ४ गुणा ५, अर्थात् २० इकाइयाँ होती हैं।

प्रयोगशाला—

डाल्टन विधि में कक्षा के कमरे नहीं होते। इसके स्थान में प्रयोग शालाएँ होती हैं। गणित, इतिहास, भूगोल आदि की 'प्रयोग शालाएँ' होती हैं जिनमें सब प्रकार की सहायक सामग्री

उपस्थित रहती है। किसी विषय का कोई अन्तर निश्चित नहीं होता। बालक अपनी रुचि और सुविधानुसार जिस 'प्रयोग-शाला' में जब चाहे जा सकता है। प्रयोगशाला में प्रत्येक कक्षा का अलग-अलग स्थान रहता है, वहाँ उसी कक्षा के लिए सहायक सामग्री मौजूद रहती है। वहां पर उस विषय का एक विशेषज्ञ विद्वान् उपस्थित रहता है। बालक को जो कठिनाई हो वह उससे पूछ सकता है।

प्रगति-सूचक रेखा चित्र—

विद्यार्थी ने कितनी उन्नति की है, इसे जानने के लिए तीन प्रकार के रेखा-चित्र प्रयोग में लाए जाते हैं। एक रेखा-चित्र विद्यार्थी के अपने पास रहता है, जिससे उसे पता चलता रहता है कि उसने २० में से पाठ की कितनी 'इकाइयाँ' (Units) कर लीं। दूसरा रेखा चित्र उस विषय के विशेषज्ञ के पास रहता है, जिसकी प्रयोगशाला में जाकर विद्यार्थी ने काम किया। इससे पता चलता है कि उस विषय में उसने कितनी इकाइयाँ कर लीं। तीसरा रेखा-चित्र कक्षा में प्रत्येक विद्यार्थी की किस-किस विषय में कितनी-कितनी इकाइयाँ समाप्त हो चुकी हैं, कितनी रहती हैं, यह दर्शाता है। महीने भर में २० इकाइयों को पूरा कर लेने पर 'ठेका' समाप्त होता है।

'सम्मेलन' तथा 'विमर्श-सभा'—

पाठशाला के समय को दो भागों में बाँटा जाता है। प्रातः-काल विद्यालय में आते ही शिक्षक तथा विद्यार्थियों का 'सम्मेलन' (Assembly) होता है। यह मिलना डाल्टन-पद्धति का आवश्यक अंग है। इस सम्मेलन में शिक्षक सब को जो-कुछ कहना हो, कह देता है। सायङ्काल को सब बालक इतिहास, भूगोल अथवा किसी अन्य विषय की 'विमर्श-सभा' (Conference) में इकट्ठे

होते है और अपने-अपने अनुभव सुनाते हैं। 'सम्मेलन' में शिक्षक विद्यार्थियों को निर्देश देता है, 'विमर्श सभा' मे बालक अपने-आप अपने अनुभवों की चर्चा करते हैं।

योजना-पद्धति मे सब विषयों का अनुबन्ध (Correlation) ध्यान मे रखकर पढ़ाया जाता है। डाल्टन-प्रणाली मे एक-एक विषय के विशेषज्ञ के आधीन बालक काम करते हैं अत इस प्रणाली में सानुबन्ध-शिक्षा (Correlation of studies) का सिद्धान्त काम में नहीं लाया जाता—यह इस प्रणाली का दोष है। प्रत्येक विषय के लिए प्रयोगशालाए बनाना भी सब स्कूलों के लिए सम्भव नहीं है, न प्रत्येक शिक्षक में इतनी योग्यता या लगन होती है कि वह 'निर्दिष्ट-पाठ' (Assignment) बनाने की मेहनत कर सके। अगर ये सब बातें सम्भव हो तो १२ से ऊपर की आयु के बालकों की शिक्षा के लिए इससे अच्छी कोई पद्धति हो नहीं सकती।

१८

'बुनियादी-तालीम' या 'वर्धा-योजना'

(BASIC EDUCATION AND ITS METHOD)

भारत का सब से बड़ा प्रश्न प्राथमिक शिक्षा का प्रश्न है। अंग्रेजों को सब भारतीयों को शिक्षित करने की आवश्यकता न थी, उन्हें अपना काम चलाने के लिए इने-गिने पढ़े-लिखे चाहिए थे, इसलिए अन्य उन्नत देशों के विपरीत यहां उच्च-शिक्षा देने वाले विश्व विद्यालयों का निर्माण पहले हुआ, प्राथमिक-शिक्षा की तरफ ध्यान पीछे गया। जब देश में हलचल हुई, जातीयता की भावना जागृत हुई, तब सब बच्चों की शिक्षा का प्रश्न उग्र हो उठा। महात्मा गांधी (१८६९-१९४८) ने इस दिशा की तरफ विशेष ध्यान दिया और जब अंग्रेजों के रहते पहली बार कांग्रेस मन्त्री मण्डल बने तब मुख्यतया प्राथमिक शिक्षा के प्रश्न को हल करने के लिए वर्धा योजना अथवा बुनियादी-तालीम के विचार को जन्म दिया। १९३७ में महात्मा गांधी के सभापतित्व में वर्धा में एक शिक्षा-सम्मेलन हुआ जिसमें निम्न प्रस्ताव स्वीकृत हुए :—

(१) इस सम्मेलन की सम्मति में देश भर में प्रत्येक बालक को ७ वर्ष तक निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा देने का प्रबन्ध होना चाहिये।

(२) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होना चाहिये।

(३) यह सम्मेलन महात्मा गाधी के इस विचार की पुष्टि करता है कि प्राथमिक-शिक्षा के काल में किसी उत्पादक 'हस्त-कला' को केन्द्र बनाकर शिक्षा देनी चाहिए और अन्य जो भी शिक्षा दी जाय वह इस 'केन्द्रीय हस्त कला' (Central handi-craft) के साथ अनुबद्ध अथवा समन्वित (Correlate) करके ही जानी चाहिये। केन्द्रीय हस्त कला चुनते हुए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह बालक की परिस्थिति के अनुकूल हो।

(४) यह सम्मेलन आशा करता है कि इस पद्धति से शिक्षा देने पर अध्यापकों के वेतन पर जो व्यय आयेगा वह विद्यार्थियों द्वारा बनाये [हुए हस्त कला के सामान की बिक्री से पूरा हो जायगा।

वर्धा सम्मेलन के प्रस्तावों के आधार पर डॉ॰ जाकिर|हुसैन की अध्यक्षता मे 'जाकिर-हुसैन कमेटी' बनायी गई, जिसने इन प्रस्तावों पर महात्मा गाधी के सम्मुख १६३७ के अन्त तथा १६३८ के बीच मे दो रिपोर्टें पेश की। इन रिपोर्टों मे जो विस्तृत पाठविधि बनाई गई, उसी का नाम वर्धा योजना अथवा बुनियादी-तालीम है।

बुनियादी तालीम के मूल-सिद्धान्त

'वर्धा सम्मेलन' तथा 'जाकिर हुसैन कमेटी' की दोनों रिपोर्टों के आधार पर 'बुनियादी तालीम' की जो योजना बनी, उसके अनुसार प्रथम तथा मुख्य स्थान 'केन्द्रीय हस्त-कला' को, द्वितीय इस योजना के 'स्वावलम्बी' होने को, तृतीय ७ वर्ष तक 'निःशुल्क तथा अनिवार्य' शिक्षा को, चतुर्थ 'मातृभाषा' द्वारा शिक्षा देने को प्राप्त है। अब हम इन चारों पर क्रमशः विचार करेंगे।

'केन्द्रीय हस्त-कला' —

'बुनियादी-तालीम' का सबसे मुख्य सिद्धान्त यह है कि किसी 'हस्त-कला' (Craft) को केन्द्र बनाकर शिक्षा दी जाय। कई लोग यह समझते हैं कि जिस स्कूल में मिट्टी, लकड़ी, चमड़े आदि का कोई काम सिखाया जाता है वहाँ बुनियादी-तालीम चल रही है। यह भ्रम है। पढ़ाई के अन्य विषयों के साथ-साथ हस्त-कला को चलाना बुनियादी-तालीम नहीं है। बुनियादी-तालीम में तो 'हस्त कला' ही मुख्य विषय है। अगर दिन में साढ़े पाँच घण्टे शिक्षा दी जाय, तो उसमें तीन घण्टे बीस मिनट 'हस्त कला' की ही शिक्षा दी जायगी। बुनियादी स्कूल में बालक जो चीजें बनायेंगे, वे सिर्फ स्कूल के या घर में रखने की नहीं होंगी, वे उन पर इतनी मेहनत करेंगे कि बाजार में वे अन्य चीजों का मुकाबिला कर सकेंगी। बालक जब हस्त-कला सीखेंगे तब चार बातों पर विशेष ध्यान दिया जायगा :—

१—वह उनकी परिस्थिति के अनुकूल हो।

२—वह 'हस्त-कला' उत्पादक होनी चाहिये।

३—उससे बुद्धि का उत्तेजना मिले।

४—अन्य सब विषय उसमें समन्वित किये जाँय।

परिस्थिति की अनुकूलता तथा उत्पादकता को दृष्टि में रखते हुए 'कृषि' (Agriculture), 'कताई बुनाई' (Spinning and Weaving) तथा 'लकड़ी का काम' (Wood work) को 'केन्द्रीय हस्त-कला' (Central handicraft) बनाया गया है। कृषि सिखाने का यह अभिप्राय नहीं कि माली से सीखा जाय, कताई-बुनाई सीखने का यह अभिप्राय नहीं कि जुलाहे से सीखा जाय, लकड़ी के काम सीखने का यह अभिप्राय नहीं कि बढ़ई से सीख लिया जाय। ये लोग यन्त्र चलाना सिखा सकते हैं, हस्त-कला

द्वारा बुद्धि को उत्तेजित नहीं कर सकते। इन विषयों को पढ़ाने के लिए ऐसे *विशेषज्ञ शिक्षक* तैयार करने होंगे जो कृषि, कताई-बुनाई के साथ साथ बुद्धि को उत्तेजित कर सकें, महात्मा गान्धी के शब्दों में, बढ़ई बालक को बढ़ई ही नहीं इंजिनीयर बना सके। किसी 'कला' को, 'योजना' को आधार बनाकर शिक्षा देना 'योजना-पद्धति' (Project method) है, और 'हस्त कला' को आधार बना कर शिक्षा देना 'क्रिया द्वारा शिक्षा' (Learning by doing) के सिद्धांत का ही पालन करना है—'वर्धा योजना' में इन दोनों को *आधार* बनाया गया है। इसके साथ-साथ 'केन्द्रीय हस्त-कला' में गणित, भूगोल, इतिहास, चित्रकला आदि का जोड़ देना 'सानुबन्ध शिक्षा' (Correlation) का सिद्धांत है। इन सब सिद्धान्तों को 'बुनियादी-तालीम' में ले लिया गया है।

शिक्षा का 'स्वावलम्बी' होना—

'बुनियादी-तालीम' के 'स्वावलम्बी' होने के दो अर्थ हैं.—

(क) विद्यार्थी का ऐसी 'हस्त-कला' को सीखना जो उसे आगामी जीवन में अपने पैरों पर खड़ा होने योग्य बना दे।

(ख) स्कूल में जो सामान बने उसे बेच कर अध्यापक का वेतन निकल आये, ऐसा प्रबन्ध करना।

यह तो ठीक है कि आजकल हमारी शिक्षा विद्यार्थी का बहुत अधिक समय नष्ट कर देती है, उसमें व्यावहारिकता नहीं होती। इसी दृष्टि से 'योजना-पद्धति' (Project method) में इस बात पर अधिक बल दिया जाता है कि जो भी 'योजना' बने वह जीवन की किसी-न किसी वास्तविक समस्या को हल करने वाली होनी चाहिए, और इसी बात को 'बुनियादी-तालीम' ने ले लिया है। सब से बड़ी समस्या तो शिक्षा प्राप्त करके आजीविका कमाना ही है, अतः 'बुनियादी-तालीम' में इस बात पर जोर दिया जाता

है कि बालक प्रारंभ से ही ऐसी शिक्षा ग्रहण करे जिससे आगामी जीवन में वह स्वावलम्बी बन सके। हाँ, बालक के बनाये सामान की बिक्री से पाठशाला के अध्यापकों का खर्च भी चल सके यह अव्यावहारिक बात है। जिस समय महात्मा गांधी ने यह स्कीम रखी थी उस समय उन्होंने २५ रुपया मासिक प्राथमिक अध्यापकों का वेतन सोचा था परन्तु यह बहुत कम था।

शिक्षा का निःशुल्क तथा अनिवार्य होना—

म्यूनिसिपल तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्डों में शिक्षा 'निःशुल्क' तथा 'अनिवार्य' थी, फिर भी उनकी तथा 'बुनियादी तालीम' की शिक्षा में निम्न भेद था :—

क—बोर्डों के नियम के अनुसार ५ वर्ष, परन्तु 'बुनियादी-तालीम' के अनुसार ७ वर्ष की शिक्षा 'निःशुल्क' तथा 'अनिवार्य' है।

ख—बोर्डों के अनुसार ५ से १० वर्ष की आयु का, परन्तु 'बुनियादी-तालीम' के अनुसार ७ से १४ वर्ष की आयु का बालक अवश्य स्कूल में होना चाहिये।

ग—बोर्डों के अनुसार यह समझा जाता है कि बालक घर में कोई शिक्षा ग्रहण नहीं करता; 'बुनियादी-तालीम' के अनुसार यह समझा जाता है कि पहले उसने घर में 'प्रारम्भिक-शिक्षा' ग्रहण कर ली है, ७ वर्ष से १४ वर्ष तक उसकी शिक्षा का दूसरा कदम है।

घ—बोर्डों के अनुसार ५ से १० वर्ष की आयु तक केवल 'प्राथमिक-शिक्षा' दी जाती है, ५ वर्ष में दी भी इतनी ही जा सकती है; 'बुनियादी-तालीम' के अनुसार प्राथमिक तथा माध्यमिक दोनों शिक्षाएँ दी जाती हैं।

ङ—बोर्डों की शिक्षा के अनुसार शिक्षा का व्यय कुछ नहीं लिया जाता; 'बुनियादी-तालीम' के अनुसार बालक सामान बनाते हैं, और उसकी बिक्री से अध्यापकों का वेतन दिया जाता है।

ऊपर दिये गये विवेचन से स्पष्ट है कि 'बुनियादी तालीम' में शिक्षा का स्तर बोर्डों में दी जाने वाली शिक्षा से ऊँचा कर दिया गया है। केवल प्रारंभिक पाँच वर्ष ही शिक्षा देने से बालकों के फिर सब-कुछ भूल कर अपढ़ हो जाने की सम्भावना रहती है, अतः शिक्षा-काल ५ से बढ़ाकर ७ वर्ष कर दिया गया है। ७ से १४ वर्ष की आयु ऐसी होती है जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, इस समय दी हुई शिक्षा जीवन पर छा जाती है। इसलिए ५ से १० वर्ष के स्थान में अनिवार्य शिक्षा का समय ७ से १४ वर्ष कर दिया गया है। कांग्रेस सरकारों ने बोर्डों की प्राथमिक-शिक्षा में 'बुनियादी-तालीम' को ही प्रायः सब प्रान्तों में जारी कर दिया है।

मातृभाषा द्वारा शिक्षा—

'बुनियादी तालीम' में मातृ भाषा को वह स्थान दिया गया है जो अब तक अंग्रेजी को मिलता रहा है। अब तक प्रत्येक विषय अंग्रेजी के माध्यम से पढ़ाया जाता रहा है। इतने बड़े देश में सिर्फ गुरुकुलों के संचालकों ने उच्च से-उच्च शिक्षा मातृ भाषा द्वारा दी है, नहीं तो बड़े-बड़े शिक्षा-धुरन्धरों का ध्यान भी इधर नहीं गया। वर्तमान शिक्षा संचालकों का कर्त्तव्य है कि गुरुकुलों के सहयोग से मातृ-भाषा द्वारा शिक्षा देने में सहायता लें। जिस शब्दों का निर्माण हम लोग करना चाहते हैं, वे गुरुकुलों में अनेक वर्षों से चल रहे हैं। बुनियादी तालीम में मातृ-भाषा के बाद हिन्दुस्तानी को स्थान दिया गया है, वह एक प्रकार से प्रत्येक प्रांत की द्वितीय भाषा मानी गई है, इसमें अंग्रेजी को कोई विशेष महत्वपूर्ण स्थान नहीं है।

२—'बुनियादी-तालीम' और 'योजना-पद्धति'

हम पहले दिखा आये हैं कि बुनियादी-तालीम में योजना-पद्धति (Project methed) से बहुत-कुछ लिया गया है। हाथ

से करके सीखना, योजना का जीवन के साथ वास्तविक संबन्ध होना तथा विषयों का एक दूसरे के साथ सम्बन्ध होना 'योजना-पद्धति' से ही लिए हुए सिद्धान्त हैं। 'योजना पद्धति' को भारतीय परिस्थिति के अनुकूल बनाकर ही बुनियादी-तालीम की रचना की गई है। फिर भी इन दोनों में भेद है। योजना-पद्धति में योजना (Project) शिक्षा देने का साधन-मात्र होती है, उससे शिक्षा का काम चल गया तो उसे वहीं छोड़ बालक एक नई योजना में लग जाते हैं। बुनियादी तालीम में हस्त-कला तो जीवन का अंग बन जाती है, वह शिक्षा का ही साधन नहीं, आगामी जीवन में जीविका का भी वह साधन है, और पढ़ने के समय अध्यापक की आजीविका भी उससे चलती है। जहाँ तक किसी हस्त-कला (Craft) को केन्द्र बनाने का विचार है, वह बहुत उत्तम है, परन्तु जब इससे बालक के आगामी जीवन तथा अध्यापक की आजीविका की समस्या को हल करने का प्रयत्न किया जाता है तब इसके अनेक समालोचक खड़े हो जाते हैं। बालक छोटी आयु में जीवन भर के लिए किसी हस्त-कला को कैसे चुन सकता है? अध्यापक बालक के बनाये खिलौनों की बिक्री पर आजीविका यापन करता हुआ क्या अनुभव कर सकता है? इस बिक्री से इतनी आय भी हो सकती है या नहीं कि उसका खर्च चल सके?—ये ऐसे विचार हैं जिन का संतोष जनक उत्तर नहीं मिलता।

१६

वर्गीकरण

(CLASSIFICATION)

इस समय जिस प्रणाली से बालकों को पढ़ाया जाता है उसका नाम 'समूह-शिक्षा' (Class-teaching) है। 'समूह-शिक्षा' में सब बालकों को एक ही ढंग से पढ़ाया जाता है। परन्तु सब बालक एक ही तरह के तो नहीं होते। कोई तीव्र बुद्धि, कोई गणित तथा विज्ञान में रुचि रखने वाले, कोई साहित्य में रुचि रखने वाले, जितने कक्षा में बालक उतने उनके भेद। इसी कठिनाई को हल करने के लिए 'डाल्टन-पद्धति' आदि नवीन शिक्षा-प्रणालियाँ प्रचलित हुई हैं जिनका आधार 'वैयक्तिक शिक्षा' (Individual teaching) है। परन्तु 'वैयक्तिक शिक्षा' भी तब तक पूर्ण नहीं कही जा सकती जब तक एक एक बालक के लिए एक एक शिक्षक का प्रबन्ध न किया जाय, क्योंकि कोई से दो बालक एक से नहीं होते। ऐसी अवस्था में मुख्याध्यापक के सम्मुख सबसे बड़ी समस्या यह है कि वह 'समूह-शिक्षा' तथा 'वैयक्तिक शिक्षा' का किस प्रकार समन्वय करे। हम प्रत्येक बालक के लिए एक-एक शिक्षक नहीं रख सकते, फिर क्या किया जाय? किस प्रकार 'समूह शिक्षा' को चलाते हुए प्रत्येक बालक की

पृथक् रुचि का, पृथक् प्रकृति का, उसके पृथक् व्यक्तित्व का ध्यान रखा जाय ?

इस समस्या को हल करने के लिये तीन बातों पर ध्यान रखना आवश्यक है :—

१—विद्यार्थियों का 'पृथक्-व्यक्तित्व' (Individuality)

२—योग्यता के अनुसार चढ़ाना-उतारना (Promotions and Degradations)

३—वैयक्तिक रुचि के अनुसार विषयों का चुनाव।

१—विद्यार्थी का 'पृथक् व्यक्तित्व'

प्रत्येक अध्यापक जानता है कि एक ही आयु के एक बालक का दूसरे बालक से महान् भेद होता है। क्योंकि कुछ बालक एक ही आयु के हैं, इस आधार पर उन्हें एक ही श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। किसी भी विषय को ग्रहण करने का उनका सामर्थ्य अलग अलग होता है। एक बालक एक विषय में कमजोर है, दूसरे में एकदम चमक उठता है। इन सब भेदों का परिणाम यह होता है कि शिक्षक अगर तेज बालकों की चाल से चलता है, तो कमजोर बालक देखते रह जाते हैं, वे अपना पढ़ने आना ही बेकार समझने लगते हैं, और अगर वह कमजोर बालकों की चाल से चलता है, तो तेज बालक एक ही बात को बार-बार सुनकर ऊब जाते हैं, पढ़ाई में ध्यान देना बन्द कर देते हैं। व्यक्तिगत भेदों के कारण शिक्षक के लिए सबको एक चाल से पढ़ाना कठिन हो जाता है, भिन्न-भिन्न प्रकृति के विद्यार्थियों के लिए एक ही चाल से चलने वाले शिक्षक से पढ़ना कठिन हो जाता है। इसी समस्या को हल करने के लिए 'श्रेणी' (Class) के भीतर अवान्तर श्रेणियाँ बनाई जाती हैं, जिन्हें 'भाग' (Section) तथा 'वर्ग' (Drafts) कहा जाता है।

'श्रेणी'-'भाग'-'वर्ग'—

विद्यालय मे जितने विद्यार्थी आते हैं, हम उनकी परीक्षा लेते हैं, और मोटे तौर से उनकी योग्यता के अनुसार उन्हें भिन्न भिन्न श्रेणियों मे बाँट देते हैं। एक तरह की योग्यता के विद्यार्थियों को एक श्रेणी मे, दूसरी तरह की योग्यता के विद्यार्थियों को भिन्न श्रेणी में रख देते हैं। श्रेणियों मे बाँटना भिन्नता मे एकता लाने का यत्न करना है ताकि शिक्षक एक चाल से चल सके, और विद्यार्थी एक ही योग्यता के होने के कारण एक साथ समझ सकें। परन्तु एक ही श्रेणी में भी तो बहुत भिन्नता होती है। कई बालक रोगी रहने के कारण देर तक विद्यालय से अनुपस्थित रहते हैं, और श्रेणी के साथ नहीं चल सकते। कई किसी प्रभाव-शाली व्यक्ति के लड़के होते हैं, अत्यन्त कमजोर हैं, योग्यता के कारण नहीं, माता पिता के प्रभाव के कारण, किसी की सिफारिश के कारण ऊपर की कक्षा मे पढ़ रहे हैं। कई कृपांक मिलने से उत्तीर्ण हुए हैं, फेल होते होते ही बचे हैं, कई १०० मे से १०० अंक लेकर चढ़े हैं। इस समस्या को हल करने के लिये श्रीयुत् स्टो के कथनानुसार 'श्रेणी' को 'भागों' (Sections) मे बाँटा जाना आवश्यक है। एक ही श्रेणी में जो प्रथम विभाग में उत्तीर्ण हुए हैं, उनका 'क' 'भाग', जो द्वितीय विभाग में उत्तीर्ण हुए हैं, उनका 'ख' 'भाग', और जो तृतीय-विभाग में उत्तीर्ण हुए हैं, उनका 'ग' 'भाग' कर देने से शिक्षक को फिर भिन्नता [redacted] एकता मिल जाती है, और एक ही श्रेणी के तीनों भागों मे शिक्षक तथा बालक ठीक चाल से चल सकते हैं, एक ही पाठ को तीन तरीकों से पढ़ सकते हैं। 'भागों' को केवल संख्या के आधार पर बाँट देना ठीक नहीं। एक ही श्रेणी में १२० बालक शिक्षा पा रहे हैं, इसलिये चालीस-चालीस के यूँ ही 'भाग' बना देना, और 'भागों' में बाँटते हुए विद्यार्थियों की योग्यता पर ध्यान

न देना, वास्तविक समस्या का हल करना नहीं है। 'भागों' में भी जो भिन्नता है उसका इलाज करने के लिये श्रीयुत लैंचस्टर ने 'वर्ग' रचना (Drafts) के विचार को जन्म दिया है। उनका कथन है कि योग्यता के अनुसार, एक ही 'भाग' के विद्यार्थियों को पाँच-पाँच, दस-दस के 'वर्ग' (Drafts) में बाँट देना चाहिए, और शिक्षक को सम्पूर्ण श्रेणी को पढ़ाते हुए उस 'वर्ग' की अलग-अलग देख-रेख रखनी चाहिये।

इतनी एकता लाना उचित है, या नहीं, इस पर शिक्षा-शास्त्रियों की भिन्न-भिन्न सम्मति है। एकता लाने का उद्देश्य शिक्षा में 'व्यक्तिगत-भेद' को सामने रखना है, परन्तु कई लोगों का कहना है कि बहुत अधिक एकता लाने से विद्यार्थियों की संख्या बहुत कम हो जायगी, और वे इतने एक-समान हो जायेंगे कि उनमें विषमता के कारण प्रतिस्पर्धा, एक-दूसरे से बढ़ने की इच्छा नहीं रहेगी। मनुष्य का स्वभाव है कि जब तक मुकाबिला न हो तब तक उसमें क्रिया-शीलता उत्पन्न नहीं होती। इसलिए 'श्रेणी'—'वर्ग'—द्वारा एकता लाते हुए भी भिन्नता बनाये रखनी चाहिए ताकि विद्यार्थियों में 'प्रतिस्पर्धा' (Emulation) की भावना बनी रहे। 'समूह-शिक्षा' में यह गुण है कि छात्रों की संख्या अधिक होने के कारण उनमें 'प्रतिस्पर्धा' बनी रहती है, 'वैयक्तिक शिक्षा' में संख्या कम होने के कारण 'प्रतिस्पर्धा' नहीं रहती। दोनों के गुण सम भाव से बनाये रखने के लिए यह उचित है कि 'श्रेणी'-'भाग'- वर्ग' न बहुत बड़ा ही हो, न बहुत छोटा ही हो, न बिल्कुल एक-सा ही हो। पचीस संख्या तक तो शिक्षक 'समूह शिक्षा' के गुणों के साथ-साथ प्रत्येक बालक पर व्यक्ति रूप से भी ध्यान दे सकता है, परन्तु विद्यार्थियों की संख्या २५ से अधिक जितनी बढ़ती जायगी उतना ही 'समूह शिक्षा' के लाभ घटने शुरू हो जायेंगे, और ४०

संख्या के बाद तो बिलकुल ही जाते रहेंगे, अत 'प्रतिस्पर्धा' आदि 'समूह शिक्षा' के गुण बनाये रखने के लिए 'श्रेणी' के किसी 'भाग' की संख्या २५ से कम और ३० से अधिक नहीं होनी चाहिए।

२— योग्यता के अनुसार चढाना-उतारना

बालक के माता पिता के दृष्टि कोण म तथा शिक्षक के दृष्टि कोण मे एक भारी भेद यह है कि माता पिता तो बालक के अनुत्तीर्ण हो जाने पर भी यही चाहते हैं कि उसे चढा दिया जाय, शिक्षक यह चाहता है कि वह जिस श्रेणी के योग्य है उसी में रहे ताकि आगे उन्नति कर सके। जिस विद्यालय मे सिफारिशो से बालक चढते रहते हैं उसमे अन्त मे जाकर सर्वोच्च कक्षा मे इतने अयोग्य विद्यार्थी इकट्ठे हो जाते हैं कि वार्षिक परीक्षा मे बहुत भारी संख्या में वे अनुत्तीर्ण हो जाते हैं। मुख्याध्यापक का यह कर्तव्य है कि योग्यता की ठीक ठीक जाच करे। कई बालक परीक्षा मे अनुत्तीर्ण हो जाते हैं, परन्तु शिक्षकों की दृष्टि मे उन्हे उत्तीर्ण होना चाहिए था। ऐसो को ऊपरली श्रेणी मे चढा देना ही ठीक है। कई बालक घोटकर, नक्ल करके, या परीक्षक की शिथिलता, से परीक्षा मे उत्तीर्ण हो जाते हैं, परन्तु शिक्षक की दृष्टि में उन्हें अनुत्तीर्ण होना चाहिए था। ऐसो को ऊपरली कक्षा में इस शर्त पर चढाना चाहिए कि अगर कुछ समय बाद शिक्षक की सम्मति म वे ऊपर की श्रेणी के योग्य न समझे गये तो उन्हे फिर वापस बुला लिया जायगा। हाँ, ऐसा निर्णय करते हुए यह भी ठीक से जाच लेना चाहिए कि शिक्षक उस बालक के प्रति अन्याय न कर रहा हो। परीक्षा को ही बालक के चढाने-उतारने की अन्तिम कसौटी न समझ लेना चाहिए, चढाना उतारना इस दृष्टि से चाहिए जिस से पढ़ाते हुए अध्यापक यह अनुभव न करे कि उसके सामने अत्यन्त विषम योग्यताओं के विद्यार्थी बैठे हैं।

जो विद्यार्थी चढ़ जाते हैं उनमें से कई बहुत तेज भी हो सकते हैं, वे एक ही वर्ष में दो साल का काम कर सकते हैं। ऐसे बालक ही समाज की सम्पत्ति हैं। उन्हें बेकार सुस्त बालकों के साथ जोते रखना उनका नाश करना है। उनकी समस्या का हल करने के लिए कई शिक्षा शास्त्री यह कहते हैं कि विद्यालय में दो परीक्षायें होनी चाहिएं—वार्षिक तथा षण्मासिक। षाण्मासिक परीक्षा में ऐसे विद्यार्थियों को छाँट लेना चाहिए जो एकदम अगली श्रेणी में चढ़ाए जा सकते हैं, ऐसे दो-चार ही होंगे तो क्या, उन्हीं से तो पाठशाला की शान है। यह ठीक है कि छः महीने तक अगली श्रेणी की आधी से ज्यादा पढ़ाई हो चुकी होगी, और नये विद्यार्थियों के आजाने से जहाँ इन के लिये पिछली पढ़ाई करना कठिन होगा वहाँ अध्यापक के लिये अन्य विद्यार्थियों के साथ इन्हें लेकर चलना कठिन होगा। इस कठिनाई का समाधान यूं किया जा सकता है कि पाठविधि को दो हिस्सों में बाँट दिया जाय। पहले छः महीने दो तिहाई कराई जाय, अगले समय में एक तिहाई, और उस समय में एक-तिहाई पाठ के साथ-साथ पिछले छः महीने के दो-तिहाई पाठ को मोटी तौर पर दोहरवा दिया जाय। जिन कुशाग्र-बुद्धि बालकों को छः महीने में आगे चढ़ा दिया गया है वे शीघ्र ही पिछला पाठ पकड़ लेंगे। जिन बालकों को इस शर्त पर चढ़ाया गया था कि वे सन्तोष-जनक कार्य करेंगे तो आगे चलते रहेंगे, नहीं तो उतार दिये जायेंगे, उन्हें ठीक काम न करने पर उतार देना चाहिए। जो मुख्याध्यापक इस प्रकार के 'वर्गीकरण' को अपना कर्तव्य नहीं समझता वह प्रत्येक बालक के साथ, माता पिता के साथ, अध्यापकों के साथ अन्याय करता है।

कमजोर बालकों के लिए 'विशेष-कक्षाओं'(Special Classes)

का प्रबन्ध होना चाहिए। 'विशेष कक्षाओं' का यह अभिप्राय नहीं कि एक ही श्रेणी के कमजोर बालकों को इकट्ठा करके एक शिक्षक के सिपुर्द कर दिया जाय। इतने शिक्षक कहाँ से मिलेंगे? इसका यह अभिप्राय है कि कई श्रेणियों के भिन्न भिन्न बालकों को स्कूल के सबसे योग्य शिक्षक के सिपुर्द किया जाय, और वह सब से व्यक्ति रूप से काम कराये। हरेक की निर्बलता को देखे, उसी पर जोर दे, और दूर हो जाने पर जिस कक्षा के योग्य वह बालक हो उसे पढ़ने के लिए फिर उसमें भेज दिया जाय। 'विशेष कक्षाओं' में परीक्षा का भय नहीं रहता, बालक अपनी मनचाही चाल से चलता है, शिक्षक उसे रास्ता दिखाता जाता है, जब वह किसी श्रेणी में ठीक से चलने योग्य हो जाता है, तब उस नाले को नदी के प्रवाह के साथ आगे आगे बहने के लिए सम्मिलित कर दिया जाता है।

३—रुचि के अनुसार विषयों का चुनाव

इस समय विद्यार्थी को पढ़ाने के तीन प्रकार चल रहे हैं। पहले प्रकार में एक साल तक एक विद्यार्थी को एक श्रेणी में रहना पड़ता है। सब विषय पढ़ने पड़ते हैं। जिनमें तेज है उनमें तथा जिनमें कमजोर है उनमें उतना ही समय देना पड़ता है। यह 'एक कक्षा प्रकार' (Single class system) कहाता है। इसमें विद्यार्थी को अपनी रुचि के अनुसार पढ़ने की स्वतन्त्रता नहीं होती। सालभर एक कक्षा में पढ़ने के बाद उसे परीक्षा लेकर अगली कक्षा में चढ़ा दिया जाता है। इसमें बहुत उधेड़-बुन नहीं करनी पड़ती, यह 'वर्गीकरण' का सब से आसान तरीका है। दूसरा 'बहु-कक्षा प्रकार' (Manifold system) है। इसमें प्रत्येक बालक भिन्न-भिन्न विषयों को अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार भिन्न भिन्न कक्षाओं के साथ पढ़ता है। किसी विषय को ४थी के साथ, किसी को ५वीं के साथ पढ़ता है। इसमें विद्यार्थियों को स्वतन्त्रता होती

है, परन्तु उस की पढ़ाई की देख-रेख कर सकना कठिन होता है। 'वर्गीकरण' के इस दोष को दूर करने के लिए 'परामर्श दाता' अध्यापकों की नियुक्ति करनी पड़ती है जो सम्पूर्ण अध्ययन काल मे विद्यार्थी की देख रेख करते हैं, उसे परामर्श देते रहते हैं। तीसरे में इन दोनों को मिला दिया गया है, यह 'मिश्र कक्षा प्रकार' (Mixed system) कहाता है। इस में प्रत्येक विद्यार्थी अपनी-अपनी कक्षा में ही रक्खा जाता है, जैसे पहले प्रकार के संबंध में कहा जा चुका है, परन्तु गणित, विज्ञान आदि कुछ विषयों के सम्बन्ध में उन्हें अपनी रुचि तथा योग्यता के अनुसार ऊँची या नीची कक्षा में पढ़ने की स्वतंत्रता होती है।

इस तीन प्रकार के 'वर्गीकरण' के अतिरिक्त विषयों का एक और 'वर्गीकरण' भी किया जा रहा है जिस के विषय में कुछ विस्तृत विवेचन करना आवश्यक है।

इंग्लैंड में १९२६ में सर हेनरी हैडो की अध्यक्षता में युवा बालकों की शिक्षा के सम्बन्ध में एक कमेटी का निर्माण हुआ जिसने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि ११ या १२ वर्ष की अवस्था में प्रत्येक युवक की नस-नस एक नई लहर से भर जाती है, यह अवस्था 'किशोरावस्था' (Adolescence) कहाती है। समुद्र में जब लहर उठे तभी उसे पकड़ लेने से तैराक तर जाता है, फिर इस लहर को क्यों न पकड़ा जाय? इस लहर को पकड़ लेने से, इस अवस्था में बालक के जीवन को नई दिशा दे देने से यह कुछ-का-कुछ बन सकता है। इस दृष्टि से कमेटी ने प्रस्ताव किया कि ११-१२ वर्ष की अवस्था में बालक की शिक्षा को एक नवीन दिशा देने लिए उसके पहले मार्ग को तोड़ देना चाहिए। अगर यह समझा जाय कि तीन वर्ष की आयु में बालक 'शिशु शाला' (Nursery school) में प्रवेश करेगा तो ३ से ५ वर्ष की आयु तक दो वर्ष

यह उसमें रहे, ५ से ७ वर्ष की आयु तक दो वर्ष 'बाल शाला' (Infant School) में रहे, ७ से ११ वर्ष की आयु तक ४ वर्ष 'जूनियर स्कूल' (Junior School) में रहे, ११ से १५ वर्ष की आयु तक ४ वर्ष 'सीनियर स्कूल' (Senior School) में रहे। इस प्रकार लगभग ११ वर्ष की आयु में प्रत्येक बालक 'जूनियर' तक पहुँच चुका होगा, 'सीनियर' में जाने वाला होगा। 'शिशु शाला' 'बाल शाला' 'जूनियर स्कूल'-'सीनियर स्कूल' का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं होगा। अनेक 'शिशु शालाओं' के बालक एक 'बाल शाला' में जायेंगे, अनेक 'बाल शालाओं' में पढ़ चुके बालक एक नवीन 'जूनियर स्कूल' में जायेंगे, अनेक 'जूनियर स्कूलों' के छात्र एक नवीन 'सीनियर स्कूल' में जायेंगे, जिनमें साथी अलग, शिक्षक अलग, मकान अलग, सब कुछ पहले से भिन्न होगा। इसका बालक के विकास पर बहुत अच्छा असर पड़ेगा। विद्यार्थी 'शिशु शालाओं' से छूट कर 'बाल शालाओं' में पहुँचेंगे, 'बाल शालाओं' से छूट कर 'जूनियर स्कूलों' में पहुँचेंगे, वहाँ से छूट कर 'सीनियर स्कूलों' में पहुँचेंगे जितना ऊपर पहुँचेंगे उतनी छाँट होती जायगी, उतना 'वर्गीकरण' होता जायगा, अनेक बालकों में उतनी तरह निकलती आयगी। क्योंकि 'जूनियर स्कूल' से उत्तीर्ण होने के बाद लगभग ११ वर्ष की आयु में बालक के जीवन में एक नवीनता आ जाती है, उसकी रुचियाँ जाग जाती हैं, नस नस फड़कने लगती है, कोई गाता है, कोई खेल में रमने लगता है, कोई विज्ञान की शिक्षा की तरफ चल देता है, अतः इस आयु में बालक को भिन्न भिन्न दिशाओं में जाने का मार्ग मिल जाना चाहिए। ११ वर्ष की आयु के बाद 'सीनियर स्कूल' में पहुँचने पर उसकी भिन्न भिन्न रुचियों के विकास के लिए उसे भिन्न भिन्न प्रकार के स्कूल मिलने चाहियें जिनमें अपनी रुचि, अपनी

योग्यता के अनुसार वह पढ़ सके। जिस देश में जितना अधिक 'शिशु-शालाएं' होंगी उतनी अधिक और उतनी ही अच्छी छाँट, उतना ही अच्छा वर्गीकरण 'बाल-शालाओं' के लिए हो जायगा, जितनी अधिक 'बाल शालाएं' होंगी उतना अच्छा वर्गीकरण 'जूनियर स्कूलों' के लिए हो सकेगा, और जितने अधिक 'जूनियर-स्कूल' होंगे उतना अच्छा वर्गीकरण 'सीनियर-स्कूलों' के लिए हो सकेगा। दस-बीस में से एक तरह के बालक छाँटना उतना आसान नहीं जितना सौ, दो-सौ में से, और सौ, दो-सौ में से भी एक-से बालक छाँटना उतना आसान नहीं जितना हजार-दो हजार में से। इसप्रकार छंटते छंटते, उनका वर्गीकरण होते-होते, जब बालक लगभग ११ वर्ष की आयु में पहुंचेंगे तब शिक्षा की दृष्टि से एक महत्व-पूर्ण बात तो हो चुकी होगी। हजारों बालकों का 'वर्गीकरण' हो चुका होगा, कौन तेज हैं, कौन कमजोर हैं, कौन आगे चल सकते हैं, कौन नहीं चल सकते, किस की गणित और विज्ञान में रुचि है, किसकी साहित्य में रुचि है? बालकों का वर्गीकरण होते ही अगर उन्हें उस आयु में अपनी रुचि और योग्यता के अनुकूल विषयों का चुनाव करने का अवसर मिल जाय, तो फिर वे क्या-से-क्या नहीं बन सकते? यह आयु घोड़े पर चढ़ कर सरपट दौड़ने की है, प्रत्येक बालक जीवन की घुड़दौड़ के लिए मानो व्याकुल हो रहा होता है। ऐसे समय बालक की रुचि के अनुकूल विषय न देकर यूं ही पढ़ाते जाना मौके को चूक जाना है। इसीलिए 'सर हेनरी हैडो कमेटी' ने यह सुझाव रखा कि पाठशालाओं का इस दृष्टि से पुनः सगठन किया जाय और 'सीनियर स्कूल' के बाद बालकों के वर्गीकरण के साथ विषयों का भी वर्गीकरण किया जाय। बचपन से 'सीनियर स्कूल' तक जिन बालकों की साहित्य में ही रुचि हो वे साहित्य की धारा में बहने वाले हैं, जिनकी विज्ञान में

रुचि हो वे विज्ञान की धारा में बहने वाले हैं। भिन्न भिन्न स्कूलों की साहित्य धारा, विज्ञान धारा बहती हुई 'सीनियर स्कूल' की 'साहित्य धारा' और 'विज्ञान धारा' में आ मिले। इस उद्देश्य से 'सीनियर स्कूल' के ४ सालों के लिए उन्होंने भिन्न भिन्न विषयों के 'विभागों' (Groups) का निर्देश किया। व्यापार, साहित्य आदि भिन्न भिन्न विषयों के 'विषय विभाग' बनाकर बालकों को सुविधा दी जाय ताकि वे ११ वर्ष की आयु के बाद, उस आयु के बाद जब उनके भीतर सचमुच एक परिवर्तन उठ खड़ा होता है, अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार विषयों का चुनाव करें।

'हैडो कमेटी' की इसी विचार धारा को अब भारत में भी अपना लिया गया है। १९४८ से ८ वीं श्रेणी उत्तीर्ण कर लेने के बाद ९ वीं श्रेणी से बालकों के लिए विषयों के ४ 'विभाग' (Groups) निश्चित कर दिये गये हैं, जिनमें से वह अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार किसी एक 'विभाग' को चुन सकता है। वे हैं—'साहित्य विभाग' (Literary Group), 'विज्ञान-विभाग' (Scientific Group), 'रचनात्मक विभाग' (Constructive Group) तथा 'कला विभाग' (Art Group)। क्योंकि इन भिन्न भिन्न विभागों के विषयों को दो साल में पूरा नहीं किया जा सकता इसलिए 'इन्टरमीजियेट' के दो सालों को 'सीनियर स्कूल' के दो सालों में मिला कर इन स्कूलों का नाम 'हायर सैकन्डरी स्कूल' रख दिया गया है, और इनका पाठ्य क्रम ४ साल का बना दिया गया है। इस प्रकार विषयों का 'वर्गीकरण' बालकों के 'वर्गीकरण' के आधार पर किया गया है, अतः माता-पिता तथा शिक्षकों का कर्तव्य है कि बालकों को किसी विभाग' (Group) को दिलवाते हुए अपनी रुचि का नहीं, बालकों की रुचि का ध्यान रखें, तभी विषय वार इस नवीन वर्गीकरण से कुछ लाभ होगा।

२०

परीक्षाएँ

(EXAMINATIONS)

परीक्षाएं दो तरह की हैं। एक वे जो शिक्षक स्वयं विद्यार्थियों की योग्यता जाँचने के लिए समय-समय पर लेता रहता है। पढ़ाते हुए यह जानने के लिए कि विद्यार्थी समझ रहे हैं, या नहीं, प्रश्न करते जाना शिक्षा का आवश्यक अंग है। शिक्षक जो परीक्षाएं लेता है वह इन प्रश्नों का ही एक विशेष रूप हैं। ऐसी परीक्षाएं लेते ही रहना चाहिये, परन्तु परीक्षा का एक और भी विशेष रूप है। साल भर पढ़ाने के बाद विद्यार्थियों की परीक्षा ली जाती है। इस परीक्षा में विद्यार्थी उत्तीर्ण हो जाय, तो उसे उपरली श्रेणी में चढ़ा दिया जाता है; अनुत्तीर्ण हो जाय, तो नहीं चढ़ाया जाता। स्कूल की शिक्षा समाप्त कर लेने पर कालेज में जाने के लिये मैट्रिक की परीक्षा होती है, कालेज में बी० ए०, एम० ए० की। ये परीक्षाएं शिक्षक भी ले सकते हैं, बाहर के परीक्षक भी ले सकते हैं, परन्तु प्रायः बाहर के परीक्षक ही लेते हैं। ऐसी परीक्षाएं विद्यार्थी और शिक्षक दोनों के लिए हौआ बनकर आती हैं क्योंकि इनमें उत्तीर्ण-अनुत्तीर्ण होने पर ही विद्यार्थी आगे कदम रख सकता है, और शिक्षक कुछ पढ़ाता रहा है या नहीं, इसकी भी परीक्षा हो जाती है। ये परीक्षाएं जिनमें विद्यार्थी एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी में जाता है,

किस ढङ्ग से होनी चाहिये—यही परीक्षा के सम्बन्ध में सब से बड़ा प्रश्न है। ये भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न भिन्न ढङ्ग से ली जाती हैं। आगे बढ़ने से पहले हम संक्षेप में यह दिखलायेंगे कि किस देश में ये परीक्षायें किस ढङ्ग से ली जाती हैं।

इङ्गलैंड तथा भारत में परीक्षा प्रणाली—

भारत में प्रायः बाह्य-परीक्षा प्रणाली प्रचलित है। प्रश्न पत्र अध्यापक नहीं बनाता, कोई दूसरा बनाता है ताकि बालकों को यूंही न चढ़ा दिया जाय। क्योंकि अध्यापकों की वेतन वृद्धि इस बात पर आश्रित रहती है कि उनके पढ़ाये कितने विद्यार्थी उत्तीर्ण होते हैं अतः परीक्षा केवल बालकों की नहीं, अध्यापकों की भी जाँच है, और इसीलिए अध्यापकों के हाथ में परीक्षा का काम नहीं छोड़ा जाता। इस बात पर विशेष प्रयत्न किया जाता है कि परीक्षक तथा विद्यार्थी में किसी प्रकार का परिचय न हो, परीक्षक को विद्यार्थियों का और विद्यार्थियों को परीक्षक का नाम नहीं बताया जाता। ३ घंटे में ६-७ प्रश्न करने को दिए जाते हैं जिनमें ४० से १०० पूर्णाङ्क होते हैं, किसी निश्चित प्रतिशत से ऊपर अङ्क लेने पर विद्यार्थी उत्तीर्ण माना जाता है। परीक्षक के घर उत्तर पत्र भेज दिये जाते हैं और परीक्षा के लगभग दो अढ़ाई महीने बाद परिणाम निकलता है, इस बीच में विद्यार्थी साँस रोके परिणाम की तरफ टिकटिकी बाँधे बैठा रहता है। इङ्गलैंड तथा भारत में प्रचलित परीक्षा प्रणाली की यही रूप रेखा है।

यह प्रणाली अत्यन्त दोषपूर्ण है। परीक्षा का अर्थ यह समझा जाता है कि बाहर के परीक्षक ने जिसे उत्तीर्ण कर दिया वह उत्तीर्ण होने के योग्य है, जिसे अनुत्तीर्ण किया है वह अनुत्तीर्ण होने के योग्य है, परन्तु अनुभव से पता चलता है कि ऐसा होता नहीं। परीक्षकों के निर्णय में इतनी भिन्नता, इतनी विषमता पायी जाती

है कि एक जिसे उत्तीर्ण कर देता है, दूसरा उसी को अनुत्तीर्ण कर देता है; एक जिसे सर्व प्रथम ठहराता है, दूसरा उसे सब से नीचे ला पटकता है। एक ही उत्तर के विषय में भिन्न भिन्न परीक्षकों के निर्णय में जमीन-आसमान का भेद होता है। स्टार्च तथा इलियट ने अंग्रेजी के उत्तर-पत्र को १४२ अध्यापकों से जाँच कराई, और किसी ने ६४ अङ्क दिये, तो किसी ने ६८ दिये; इतिहास में ७० अध्यापकों से जाँच कराई, किसी ने ४३ अङ्क दिये, तो किसी ने ९० दिये। डा० बलार्ड ने ७ विद्यार्थियों के उत्तर पत्रों की एक स्वतंत्र परीक्षक से जाँच कराई, उसने उन्हें १०० में से ४० से लेकर ९० तक अङ्क दिये। फिर उन्हीं जाँच किए हुए उत्तर-पत्रों को उसने अन्य १३ परीक्षकों से जाँच कराई और उन्हें कहा कि इन्हें योग्यता के अनुसार पहला-दूसरा इत्यादि स्थान दे दें। परिणाम यह हुआ कि एक उत्तर-पत्र को तो पहले से लेकर सातवें तक सभी क्रमों में रखा गया, दो छः क्रमों में आये, बाकी चार को पाँच क्रम मिले—अर्थात् किसी ने एक उत्तर पत्र को पहला रखा, तो किसी ने उसी को दूसरा, किसी ने तीसरा, किसी ने चौथा, और किसी ने अन्तिम। डा० बलार्ड ने एक और परीक्षण का उल्लेख किया है। १९७० में अमरीका में इतिहास की परीक्षा में छः प्रोफेसरों को परीक्षक बनाया गया। उन छः के पृथक् पृथक् अङ्कों के आधार पर विद्यार्थी का उत्तीर्ण या अनुत्तीर्ण होना निर्भर था। उत्तीर्ण होने के लिए १०० में से ६० अङ्क लेना आवश्यक था। इन्हीं प्रोफेसरों में से एक ने उन्हीं प्रश्नों का एक उत्तर-पत्र लिखा जिसे वह अपनी दृष्टि में आदर्श उत्तर समझता था। गलती से यह उत्तर-पत्र भी विद्यार्थियों के उत्तर-पत्रों में सम्मिलित हो गया। दूसरे प्रोफेसरों ने उसे किसी विद्यार्थी का उत्तर-पत्र समझ कर ही जाँचा और किसी ने ४० तो किसी ने ८० तक अङ्क दिये। क्योंकि

६० अंक पाने से विद्यार्थी उत्तीर्ण समझा जाता था इसलिए ४० अंक पाने के कारण यह प्रोफेसर भी अनुत्तीर्ण हो गया।

उत्तर-पत्रों को जाँचने में इतनी भिन्नता के अनेक कारण हैं। सौ, पाँच-सौ उत्तर पत्रों में ८-१० प्रश्नों को हरेक कापी में जाँचते-जाँचते परीक्षक यह निश्चय नहीं कर सकता कि किस परीक्षार्थी को किस प्रश्न पर ७ अंक देने च हियें, किसे ६ और किसे ८ अंक। एक बार पंजाब विश्व-विद्यालय ने एक परीक्षक के पास सब उत्तर भेजने के स्थान पर भिन्न भिन्न परीक्षार्थियों का एक ही प्रश्न का उत्तर जाँच करने के लिए भेजा ताकि उसके निर्णय में विषमता न हो सके, परन्तु इतने उत्तरों को देखते-देखते परीक्षकों ने अनुभव किया कि जहाँ १०-१५ उत्तर देखे, उनके लिए इतने उत्तरों में तुलना करना असम्भव सा हो गया। परीक्षक किसी समय प्रसन्न है तो ५-१० अंक ज्यादा दे जाता है, किसी समय खिन्न है तो ५ १० अंक कम दे डालता है। अंक देने की विषमता को देखते हुए यह कह सकना कि जिसे १०० में से ३० अंक मिले हैं, वह उत्तीर्ण होने योग्य है, और जिसे २८ अंक मिले हैं वह अनुत्तीर्ण होने योग्य है, असम्भव है।

इसके अतिरिक्त इस प्रणाली में स्मृति की ही परीक्षा होती है। विद्यार्थी सब-कुछ रट लेते हैं। कोई-कोई तो गणित के उत्तर भी रट लेते हैं। साल भर कुछ नहीं पढ़ते, परीक्षा से पहले दिन रात एक कर के अपना स्वास्थ्य खराब कर लेते हैं। जो रट नहीं सकते वे परीक्षा पत्र चुराने के साधन ढूंढते हैं, परीक्षा में नक़ल करते हैं, पकड़े जाते हैं। परीक्षा पढ़ाई के लिए नहीं होती, पढ़ाई परीक्षा के लिए समझी जाती है। विद्यार्थी तथा शिक्षक दोनों का यही दृष्टि-कोण रहता है।

इस प्रणाली में ज्यादातर परीक्षा 'प्रस्ताव लेखन' की होती है। जो अच्छा लिखना जानता है, अपने भावों को ठीक ढंग से प्रकट कर सकता है, वह कुछ न-कुछ लिखकर उत्तीर्ण हो जाता है। इतिहास, भूगोल, साहित्य—सभी में—इस पर प्रस्ताव लिखो, उस पर प्रस्ताव लिखो, बस प्रस्ताव-ही-प्रस्ताव लिखवाये जाते हैं।

इस प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि विद्यार्थियों को यह आमूल-चूल हिला देती है, उन्हें इतना घबड़ा देती है कि कभी कभी अच्छे विद्यार्थी भी फेल हो जाते हैं। बालकों का मस्तिष्क कभी कभी परीक्षा के धक्के को बर्दाश्त नहीं कर सकता। परीक्षा के समय कई पागल हो जाते हैं, और परीक्षा में फेल होने के कारण कई आत्म-हत्या कर बैठते हैं।

यह ठीक है कि शिक्षा के साथ साथ परीक्षा भी जुड़ी ही रहेगी, परन्तु इस पद्धति में जो दोष हैं उन्हें दूर करना ही होगा। अब तो भारत स्वतंत्र हो गया है, अब आवश्यक नहीं कि अंग्रेजों की पैड़ी लकीर का फकीर बनकर चला जाय। भारत सरकार को एक कमीशन भिन्न भिन्न देशों की शिक्षा-प्रणालियों का अध्ययन करने के लिए भेजना चाहिये, और अन्य देश जैसे इन समस्याओं का हल निकाल रहे हैं, वैसे हमें भी निकालना चाहिये।

जर्मनी में परीक्षा प्रणाली—

जर्मनी में इंग्लैंड तथा भारत की तरह मासिक, षट्मासिक तथा वार्षिक परीक्षाएं लेने का रिवाज नहीं है। साल को तीन भागों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक भाग के अन्त में अध्यापक अपने विषय में विद्यार्थी के सम्बन्ध में अपनी सम्मति एक रजिस्टर में दर्ज कर लेता है। इन सम्मतियों को वह १, २, ३ की संख्या में प्रकट करता है, जो इन के बीच में हों उन्हें +२,+३ या −२,−३

आदि के रूप में प्रकट करता है। वर्ष के अन्त में मुख्याध्यापक शिक्षकों के परामर्श तथा इन रजिस्टरों के आधार पर विद्यार्थी को चढ़ा देता है। जिन विद्यार्थियों को नहीं चढ़ाया जाता उन की संख्या १० प्रतिशत से अधिक नहीं होती। साल भर विद्यार्थी पर काफी ध्यान दिया जाता है, विद्यार्थी तथा उसके माता पिता को लगातार उसकी प्रगति के विषय में चेतावनी दी जाती है, परन्तु परीक्षा पर विद्यार्थी के भाग्य का निर्णय करने के स्थान पर साल भर उस ने जो काम किया है, उस पर निर्णय किया जाता है। प्रत्येक स्कूल में खेल, कक्षा पालन, सद्व्यवहार, शिष्टाचार, परिश्रम आदि पर भी अंक दिये जाते हैं। स्कूल की अन्तिम परीक्षा जिसे पास कर वह युनीवर्सिटी में जाता है, अध्यापकों ही द्वारा उस इलाके के इन्सपेक्टर की देख रेख में ली जाती है। परीक्षा लिखित भी होती है, मौखिक भी—प्रत्येक विषय में केवल एक प्रश्न दिया जाता है, प्रश्नों की भरमार नहीं की जाती। उस एक प्रश्न के उत्तर में विद्यार्थी एक निबन्ध लिखता है। अध्यापक तीन निबन्धों के विषय निर्दिष्ट करता है, जिनमें से इन्सपेक्टर किसी एक को चुनकर विद्यार्थियों को दे देता है। जो विद्यार्थी लिखित परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाते हैं, उनकी मौखिक परीक्षा ली जाती है, और इस में उत्तीर्ण होने पर उन्हें चढ़ा दिया जाता है। भाषा की परीक्षा में शब्द कोषों के प्रयोग की आज्ञा रहती है। सब विषयों की परीक्षा नहीं होती, केवल मुख्य मुख्य विषयों की परीक्षा होती है। युनीवर्सिटी में कोई परीक्षा नहीं होती, केवल अन्त में एक परीक्षा होती है जिसे 'डाक्टर' की परीक्षा कहा जाता है। परीक्षा के लिए प्रोफेसर विद्यार्थी को किसी निर्दिष्ट विषय पर निबन्ध लिखने को कहता है, समय समय पर उसकी तय्यार की हुई सामग्री की जांच करता रहता है, उसे नई-नई पुस्तकें पढ़ने का परामर्श देता है। इस मुख्य

इस प्रणाली में ज्यादातर परीक्षा 'प्रस्ताव लेखन' की होती है। जो अच्छा लिखना जानता है, अपने भावों को ठीक ढंग से प्रकट कर सकता है, वह कुछ न-कुछ लिखकर उत्तीर्ण हो जाता है। इतिहास, भूगोल, साहित्य—सभी में—इस पर प्रस्ताव लिखो, उस पर प्रस्ताव लिखो, बस प्रस्ताव-ही-प्रस्ताव लिखवाये जाते हैं।

इस प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि विद्यार्थियों को यह आमूल चूल हिला देती है, उन्हें इतना घबड़ा देती है कि कभी कभी अच्छे विद्यार्थी भी फेल हो जाते हैं। बालकों का मस्तिष्क कभी कभी परीक्षा के धक्के को बर्दाश्त नहीं कर सकता। परीक्षा के समय कई पागल हो जाते हैं, और परीक्षा में फेल होने के कारण कई आत्म-हत्या कर बैठते हैं।

यह ठीक है कि शिक्षा के साथ साथ परीक्षा भी जुड़ी ही रहेगी, परन्तु इस पद्धति में जो दोष हैं उन्हें दूर करना ही होगा। अब तो भारत स्वतंत्र हो गया है, अब आवश्यक नहीं कि अंग्रेजों की पुरानी लकीर पीटे चलते चला जाय। भारत सरकार को एक कमीशन भिन्न भिन्न देशों की शिक्षा-प्रणालियों का अध्ययन करने के लिए भेजना चाहिये, और अन्य देश जैसे इन समस्याओं का हल निकाल रहे हैं, वैसे हमें भी निकालना चाहिये।

जर्मनी में परीक्षा प्रणाली—

जर्मनी में इंग्लैंड तथा भारत की तरह मासिक, पाक्षिक तथा वार्षिक परीक्षायें लेने का रिवाज नहीं है। साल को तीन भागों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक भाग के अन्त में अध्यापक अपने विषय के विद्यार्थी के सम्बन्ध में अपनी सम्मति एक रजिस्टर में दर्ज कर देता है। इन सम्मतियों को वह १, २, ३ की भाषा में प्रकट करता है, जो इन के बीच में हों उन्हें +२,+३ या −२,−३

आदि के रूप में प्रकट करता है। वर्ष के अन्त मे मुख्याध्यापक शिक्षकों के परामर्श तथा इन रजिस्टरों के आधार पर विद्यार्थी को चढ़ा देता है। जिन विद्यार्थियों को नहीं चढ़ाया जाता उन की संख्या १० प्रतिशत से अधिक नहीं होती। साल भर विद्यार्थी पर काफी ध्यान दिया जाता है, विद्यार्थी तथा उसके माता पिता को लगातार उसकी प्रगति के विषय में चेतावनी दी जाती है, परन्तु परीक्षा पर विद्यार्थी के भाग्य का निर्णय करने के स्थान पर साल भर उस ने जो काम किया है, उस पर निर्णय किया जाता है। प्रत्येक स्कूल में खेल, आज्ञा पालन, सद्व्यवहार, शिष्टाचार, परिश्रम आदि पर भी अङ्क दिये जाते हैं। स्कूल की अन्तिम परीक्षा जिसे पास कर वह युनीवर्सिटी में जाता है, अध्यापकों ही द्वारा उस इलाके के इन्स्पेक्टर की देख रेख में ली जाती है। परीक्षा लिखित भी होती है, मौखिक भी—प्रत्येक विषय में केवल एक प्रश्न दिया जाता है, प्रश्नों की भरमार नहीं की जाती। उस एक प्रश्न के उत्तर में विद्यार्थी एक निबन्ध लिखता है। अध्यापक तीन निबन्धों के विषय निर्दिष्ट करता है, जिनमें से इन्स्पेक्टर किसी एक को चुनकर विद्यार्थियों को दे देता है। जो विद्यार्थी लिखित परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाते हैं, उनकी मौखिक परीक्षा ली जाती है, और इस में उत्तीर्ण होने पर उन्हें चढ़ा दिया जाता है। भाषा की परीक्षा में शुद्ध भाषा के प्रयोग की आशा रहती है। सब विषयों की परीक्षा नहीं होती, केवल मुख्य मुख्य विषयों की परीक्षा होती है। युनीवर्सिटी में कोई परीक्षा नहीं होती, केवल अंत में एक परीक्षा होती है जिसे 'डाक्टर' की परीक्षा कहा जाता है। परीक्षा के लिए प्रोफेसर विद्यार्थी को किसी निर्दिष्ट विषय पर निबन्ध लिखने को कहता है, समय समय पर उसकी तय्यार की हुई सामग्री की जाँच करता रहता है, उसे नई नई पुस्तकें पढ़ने का परामर्श देता है। इस मुख्य

विषय के साथ उसे कोई-से दो और विषय लेने होते हैं। तीन विषय होने के कारण उसकी जाँच के लिए तीन परीक्षक निश्चित किये जाते हैं, जो उसकी निबन्ध के अतिरिक्त मौखिक परीक्षा लेते हैं। वे उसे पूछते हैं कि किस किस विषय पर प्रोफ़ेसर के कितने व्याख्यान उसने सुने हैं, कौन-कौन से सुने हैं, क्या क्या पुस्तकें पढ़ी हैं। यह मौखिक-परीक्षा लिखित परीक्षा की अपेक्षा भी अधिक गहराई में जाती है। लिखित परीक्षा से तो प्रायः निबन्ध लिखने की शक्ति की जांच होती है, मौखिक से विद्यार्थी ने विषय को कितना पचा लिया है, यह पता लगता है। यूनिवर्सिटी की 'डाक्टर' की परीक्षा के लिए भी इसी प्रकार की जांच होती है। परीक्षा का परिणाम विद्यार्थी को उसी समय बता दिया जाता है।

फ्रांस में परीक्षा प्रणाली—

फ्रांस की परीक्षा-प्रणाली इङ्गलैंड और जर्मनी से भिन्न है। परीक्षायें वर्ष में दो बार होती हैं; एक वर्ष के अन्त—जून-जुलाई में, दूसरी वर्ष के प्रारम्भ—अक्तूबर में। जो जून-जुलाई में अनुत्तीर्ण हो जाते हैं, तथा जो रोगी होने अथवा अन्य किसी कारण से उस परीक्षा में नहीं बैठ सकते, वे अक्तूबर में परीक्षा देते हैं। परीक्षकों के घर उत्तर-पत्र नहीं भेजे जाते। परीक्षकों को परीक्षा-केन्द्र में आकर रहना होता है, और जब तक पर्चों की जांच न कर लें तब तक वहीं रहना पड़ता है। परीक्षा के प्रथम दिन से १५ दिन के अन्दर-अन्दर परिणाम सुना देना जरूरी है, विद्यार्थियों को देर तक दुविधा में नहीं रखा जाता। मौखिक परीक्षा में लिखित की अपेक्षा दुगुने अंक रखे जाते हैं, और उसे लिखित की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया जाता है। पिछले तीन साल तक की शिक्षक की सम्मति को भी परीक्षक को ध्यान में रखना होता

है। लिखित परीक्षा में सदा दो परीक्षक नियत किए जाते हैं, दोनों की सम्मति से अंक दिये जाते हैं। लिखित परीक्षा में प्रत्येक प्रश्न पत्र में तीन प्रश्न पूछे जाते हैं, जिनमें से सिर्फ एक का उत्तर देना होता है। भाषा की परीक्षा में विद्यार्थी शब्द कोष का प्रयोग कर सकते हैं।

इटली में परीक्षा-प्रणाली—

जर्मनी में शिक्षक ही अपनी श्रेणी के विद्यार्थियों की परीक्षा लेता है; फ्रांस में शिक्षक भी ले सकता है, बाहर का परीक्षक भी; इटली में वह अपने विद्यार्थियों की नहीं, परन्तु दूसरे विद्यार्थियों की अपने विषय में परीक्षा ले सकता है। उत्तर पत्रों की जांच परीक्षा केन्द्रों में होती है, परीक्षकों के घरों पर नहीं, और एक सप्ताह या ज्यादा से-ज्यादा दस दिन में परिणाम निकाल देना होता है। उत्तर पत्रों की जांच करते हुए अंक नहीं दिए जाते, परीक्षक अपनी सम्मति नोट करता है, और मौखिक परीक्षा के समय इस सम्मति को भी ध्यान में रखा जाता है। मौखिक परीक्षा का परिणाम तो उसी समय सूचित कर दिया जाता है। जो विद्यार्थी एक या दो विषयों में अनुत्तीर्ण होते हैं उन्हें अक्तूबर की परीक्षा में बैठने का अवसर दिया जाता है। यूनीवर्सिटी में परीक्षा होती ही नहीं। साल भर बाद सब उपरली श्रेणी में चढ़ा दिए जाते हैं, किन्हीं किन्हीं खास विषयों में परीक्षा देनी होती है जो वे यूनीवर्सिटी के अध्ययन काल में, साल में जो दो बार परीक्षाएं होती हैं, उनमें जब चाहें दे सकते हैं।

अमरीका में परीक्षा प्रणाली —

अमरीका में परीक्षा को सर्वथा समाप्त कर दिया गया है। अमेरिकन विश्व-विद्यालयों में अन्तिम परीक्षा कोई होती [redacted] नहीं। विद्यार्थी की योग्यता का माप 'प्रमाण-प्रथा' (Credit system)

से किया जाता है। पहली श्रेणी से डाक्टर की उपाधि लेने तक विद्यार्थी अपने अध्यापकों से इस बात के 'प्रमाण' (Credit) लेता जाता है, जिन से सिद्ध हो कि वह पढ़ने में नियम-पूर्वक रहा है, ध्यान से पढ़ता रहा है, जो पाठ घर पर करने को दिया जाता रहा है उसे कर के लाता रहा है, पढ़ाते हुए जो प्रश्न पूछे गए उनका सन्तोष-जनक उत्तर देता रहा है। एक श्रेणी से दूसरी में जाने के लिए जितने 'प्रमाण' (Credits) आवश्यक हैं उतने इकट्ठे हो जाने पर वह चढ़ा दिया जाता है, इतने समय में ही ये 'प्रमाण' (Credit एकत्रित हो सकते हैं, अधिक में नहीं—ऐसा कोई बन्धन नहीं है। विद्यार्थी कमाते भी हैं, और अध्यापकों से 'प्रमाण' (Credit) भी इकट्ठे करते रहते हैं, और इस प्रकार ऊंची-से-ऊंची उपाधि बिना परीक्षा दिये प्राप्त कर लेते हैं। ये 'प्रमाण' वे एक साल या दस साल जितने समय में सुविधानुसार प्राप्त कर सकें, प्राप्त करते हैं, और पढ़ाई के बीच में छूट जाने पर फिर उसे जारी कर सकते हैं!

नवीन परीक्षा प्रणाली

परीक्षा प्रणाली के दोषों को दूर करने के लिये जर्मनी, फ्रांस, इटली, अमरीका ने अपने अपने देशों में जो प्रणालियां प्रचलित की हैं उनका उल्लेख हमने किया। इन प्रणालियों के अतिरिक्त इन सब देशों में एक नवीन प्रणाली चल निकली है जिसका प्रारम्भ श्रीयुत् बलार्ड ने किया।

श्रीमान् बलार्ड का कथन है कि प्रचलित प्रणाली में विद्यार्थी के किसी विषय के ज्ञान की उतनी परीक्षा नहीं होती जितनी इस बात की परीक्षा होती है कि वह निबन्ध लिखने में कितना चतुर है। इसके अतिरिक्त परीक्षक यह नहीं कह सकता कि जिसे उसने १८ में से ९ अंक दिए हैं उसे ४ या ७ क्यों नहीं

दिये, वह नाप तोल कर अंक नहीं दे सकता, और इसीलिए एक ही उत्तर पर भिन्न-भिन्न परीक्षक भिन्न भिन्न अंक देते हैं। साथ ही बहुत से प्रश्न ऐसे होते हैं जिनमें विद्यार्थी अटकल से काम लेते हैं, निशाना ठीक बैठ गया तो अंक मिल गये, नहीं बैठा तो रह गये। इन सब दोषों को दूर करने के लिए ही नवीन परीक्षा-प्रणाली का चलन हुआ है।

इस प्रणाली में लगभग ३७ प्रकार के प्रश्न दिये जाते हैं जिनमें से ७-८ प्रकार प्रचलित हैं। इन प्रश्नों के प्रकार निम्न हैं :—

(१) साधारण-स्मृति के प्रश्न (Questions of Simple recall)

(२) पूरक-प्रश्न (Completion exercises)

(३) हाँ ना, ठीक गलत बताना (Yes No, True false)

(४) सम्बन्ध ज्ञापक प्रश्न ([illegible] tests)

(५) सर्वोत्तम उत्तर (Best answer)

(६) परिगणन प्रश्न (Enumeration tests)

(७) तर्क पूरक प्रश्न ([illegible] tests)

'सत्याग्रह आन्दोलन के जन्मदाता का नाम है ······।' इस प्रश्न का उत्तर है, महात्मा गांधी। उत्तर में ५ अक्षर हैं, पाँच ही बिन्दु दे दिये हैं, जिससे विद्यार्थी समझ सके कि उत्तर ठीक है, या नहीं। इस प्रश्न से 'साधारण स्मृति' के साथ साथ विद्यार्थी के सामान्य ज्ञान की भी परीक्षा हो जाती है। 'भारतवर्ष के प्रधान मन्त्री ·· ··· ने लोक सभा में · कहा'—इस वाक्य को पूरा करना पूरक प्रश्न कहाता है। 'देहरादून में जो वस्तुएँ पैदा होती हैं उनमें से मुख्य चाय, लकड़ी, बजरी, चूना, लोहा, सोना, चाँदी हैं'—इस वाक्य में ठीक गलत पर 'हाँ'—'ना' लिखने को कहा जाता है। यह 'हाँ-ना प्रश्न' कहाता है। एक तरफ माता, कलम चचा शब्द लिखकर दूसरी तरफ भतीजा, मकान, पिता शब्द

से किया जाता है। पहली श्रेणी से डाक्टर की उपाधि लेने तक विद्यार्थी अपने अध्यापकों से इस बात के 'प्रमाण' (Credit) लेता जाता है, जिन से सिद्ध हो कि वह पढ़ने में नियम पूर्वक रहा है, ध्यान से पढ़ता रहा है, जो पाठ घर पर करने को दिया जाता रहा है उसे कर के लाता रहा है, पढ़ाते हुए जो प्रश्न पूछे गए उनका सन्तोष-जनक उत्तर देता रहा है। एक श्रेणी से दूसरी में जाने के लिए जितने 'प्रमाण' (Credits) आवश्यक हैं उतने इकट्ठे हो जाने पर वह चढ़ा दिया जाता है, इतने समय में ही ये 'प्रमाण' (Credit) एकत्रित हो सकते हैं, अधिक में नहीं—ऐसा कोई बन्धन नहीं है। विद्यार्थी कमाते भी हैं, और अध्यापकों से 'प्रमाण' (Credit) भी इकट्ठे करते रहते हैं, और इस प्रकार ऊंची से-ऊंची उपाधि बिना परीक्षा दिये प्राप्त कर लेते हैं। ये 'प्रमाण' चे एक साल या दस साल जितने समय में सुविधानुसार प्राप्त कर सकें, प्राप्त करते हैं, और पढ़ाई के बीच में टूट जाने पर फिर उसे जारी कर सकते हैं!

नवीन परीक्षा प्रणाली

परीक्षा प्रणाली के दोषों को दूर करने के लिये जर्मनी, फ्रांस, इटली, अमरीका ने अपने-अपने देशों में जो प्रणालियां प्रचलित की हैं उनका उल्लेख हमने किया। इन प्रणालियों के अतिरिक्त इन सब देशों में एक नवीन प्रणाली चल निकली है जिसका प्रारम्भ श्रीयुत बलार्ड ने किया।

श्रीमान् बलार्ड का कथन है कि प्रचलित प्रणाली में विद्यार्थी के किसी विषय के ज्ञान की उतनी परीक्षा नहीं होती जितनी इस बात की परीक्षा होती है कि वह निबन्ध लिखने में कितना प्रवीण है। इसके अतिरिक्त परीक्षक यह नहीं कह सकता कि जिसे उसने १६ में से ३ अंक दिए हैं उसे ४ या २ क्यों नहीं

दिये, वह नाप तोल कर अंक नहीं दे सकता, और इसीलिए एक ही उत्तर पर भिन्न-भिन्न परीक्षक भिन्न भिन्न अंक देते हैं। साथ ही बहुत से प्रश्न ऐसे होते हैं जिनमें विद्यार्थी अटकल से काम लेते हैं, निशाना ठीक बैठ गया तो अंक मिल गये, नहीं बैठा तो रह गये। इन सब दोषों को दूर करने के लिए ही नवीन-परीक्षा-प्रणाली का चलन हुआ है।

इस प्रणाली में लगभग २४ प्रकार के प्रश्न दिये जाते हैं जिनमें से ७-८ प्रकार प्रचलित हैं। इन प्रश्नों के प्रकार निम्न हैं :—

(१) साधारण-स्मृति के प्रश्न (Questions of simple recall)

(२) पूरक-प्रश्न (Completion exercises)

(३) हाँ ना, ठीक-गलत बताना (Yes No True False)

(४) सम्बन्ध ज्ञापक प्रश्न (Association tests)

(५) सर्वोत्तम उत्तर (Best answer)

(६) परिगणन प्रश्न (Enumeration tests)

(७) तर्क मूलक प्रश्न (Reasoning tests)

'सत्याग्रह आन्दोलन के जन्मदाता का नाम है ……?' इस प्रश्न का उत्तर है, महात्मा गांधी। उत्तर में ५ अक्षर हैं, पाँच ही बिन्दु दे दिये हैं, जिससे विद्यार्थी समझ सके कि उत्तर ठीक है, या नहीं। इस प्रश्न ने 'साधारण स्मृति' के साथ साथ विद्यार्थी के सामान्य ज्ञान की भी परीक्षा हो जाती है। 'भारतवर्ष के प्रधान मन्त्री …… ने लोकसभा में …… किया'—इस वाक्य को पूरा करना पूरक प्रश्न कहाता है। 'देहरादून में जो वस्तुएं पैदा होती हैं उनमें से मुख्य चाय, लकड़ी, बजरी, चूना, लोहा, सोना, चांदी हैं'—इस वाक्य में ठीक गलत पर हाँ—'ना' लिखने को कहा जाता है। यह 'हाँ-ना-प्रश्न' कहाता है। एक तरफ माता, कलम, चचा शब्द लिखकर दूसरी तरफ भतीजा, दवात, पिता शब्द

लिखे जाते हैं और विद्यार्थियों को इन्हें एक-दूसरे के सम्बन्ध में रखने को कहा जाता है। अगर वह माता के साथ पिता, दवात के साथ कलम और चचा के साथ भतीजा रखता है, तब ठीक, नहीं तो उत्तर अशुद्ध हो जाता है। यही 'सम्बन्ध द्योतक' प्रश्न है। एक ही प्रश्न के जब कई उत्तर हो सकते हों, तो वे लिख दिये जाते हैं, उनमें से विद्यार्थी को जो सबसे अच्छा जंचे उस पर चिह्न बनाने को कहा जाता है, यह 'सर्वोत्तम उत्तर'-सूचक प्रश्न है। 'भारत के उच्चकोटि के कौन-से चार नेता हैं, क्रम से लिखो'—यह पूछना 'परिगणन सूचक' प्रश्न है। जिन प्रश्नों से विद्यार्थी की तर्क शक्ति प्रकट हो वे 'तर्क-सूचक-प्रश्न' कहाते हैं।

इस प्रणाली में प्रश्न का उत्तर एक ही हो सकता है, दूसरा नहीं, संक्षिप्त 'हाँ-ना' में ही हो सकता है, विस्तार में नहीं, अतः इस में नाप-तोल कर अंक दिये जा सकते हैं। इस प्रणाली में स्मृति को परखने के लिये 'स्मृति' के, निबन्ध-लेखन को परखने के लिये 'परिगणन' के, तथा तर्क-शक्ति को परखने के लिये 'तर्क-सूचक-प्रश्न' रखे गये हैं। एक-एक मिनट में बालक बीसियों प्रश्नों के उत्तर दे सकता है, और उसकी योग्यता का ठीक अन्दाज हो सकता है। यह ठीक है कि इस में परीक्षक को बहुत परिश्रम करना पड़ता है, परन्तु परिश्रम करना तो उसका कर्त्तव्य ही है। इस प्रणाली को छोटे बच्चों, हाई-स्कूल तथा विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों की परीक्षा के लिये भी प्रयुक्त किया जाता है।

भारत में वर्तमान प्रचलित परीक्षा-प्रणाली अत्यन्त दोष पूर्ण है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम इस प्रगतिशील युग में किसी प्रणाली को सिर्फ इसलिये न चलते रहने दें क्योंकि यह चली आ रही है। इस में जो परिवर्तन अभीष्ट हो उसे शीघ्र से शीघ्र करना चाहिये।

२१

अनुशासन
(DISCIPLINE)

अनुशासन का अर्थ—

'शिष्य' को 'शिष्य' इसलिए कहा जाता है क्योंकि उसने 'अनुशासन' में रहना होता है, 'शिष्य' तथा 'अनुशासन' दोनों 'शास्' धातु से बने हैं जिसका अर्थ है, 'नियन्त्रण'। अंग्रेजी में भी 'डिसाइपल' और 'डिसिप्लिन' एक ही भाव को प्रकट करते हैं। 'अनुशासन' का नमूना सेना में दिखाई देता है। जो व्यक्ति सेना में भर्ती होता है उसे अपनी इच्छा ताक में रख देनी होती है, आज्ञा पालन ही उसका एक मात्र कर्तव्य हो जाता है। सेना के 'अनुशासन' का अर्थ है, बिना ननु नच किये, जो कुछ कहा जाय उसे करते जाना। जो सिपाही सध जाते हैं उन्हें खन्दक में कूदने की आज्ञा दी जाय, तो वे जान की पर्वा नहीं करते, कूद जाते हैं . जो पर्वा करने लगते हैं, वे सधे हुए सिपाही नहीं रहे जाते। इसी प्रकार 'शिष्य' को इस प्रकार साध लेना कि माता पिता, तथा गुरु जो आज्ञा दें उसे वह बिना ननु नच के करे, यही 'अनुशासन' में, 'नियन्त्रण' में रहना है।

अनुशासन का उद्देश्य—

सेना का 'अनुशासन' किसी उद्देश्य से होता है। देश पर शत्रु

आक्रमण करे तो सिपाही का कर्त्तव्य है कि उसे जो आज्ञा दी जाय वैसा ही करे, इसी प्रकार देश की रक्षा हो सकती है। शिक्षा के लिए भी 'अनुशासन' का कोई उद्देश्य होना चाहिए। वह उद्देश्य क्या है ?

इसमें कोई दो सम्मतियाँ नहीं हो सकतीं कि 'शिष्य' को 'अनुशासन' में रखने का उद्देश्य उसे उन गुणों को धारण करने योग्य बनाना है जिनसे वह आगामी जीवन में उत्तम नागरिक बन सके। देश की उन्नति के लिए आवश्यक है कि इसके नागरिक सच्चे हों, ईमानदार हों, एक-दूसरे के अधिकारों का आदर करें, लड़ाई-झगड़ा न करें। मनुष्य का स्वभाव तो अपने 'स्वार्थ' की सिद्धि है। वह अपने को केन्द्र बना कर लड़ता-झगड़ता है, मार-धाड़ लूट मार करता है, सब कुछ अपने पास जोड़ लेना चाहता है। उसे मनमानी करने को छोड़ दिया जाय, तो वह दूसरे के दृष्टिकोण को नहीं देखना चाहता। देश तथा समाज की उन्नति में घातक इन प्रवृत्तियों को रोक कर ठीक रास्ते पर लगा देना ही 'अनुशासन' कहाता है। मनुष्य केवल स्वार्थी ही नहीं है, साथ ही सामाजिक प्राणी भी है, इसलिए उसकी सामाजिक भावना को आधार बनाकर उसे 'स्वार्थ' से 'निःस्वार्थ' की तरफ भी ले जाया जा सकता है। अगर उसे समाज में रहना है, इकले ही नहीं रहना, तो अपने को ही केन्द्र बनाकर चलने से काम नहीं चलेगा, इसलिए समाज में रहने की उसकी इच्छा को उत्तेजित कर उसे समाज-विरोधी मार्गों से हटाकर समाज के अनुकूल मार्गों पर चलाया जा सकता है। जिस उपाय से चलाया जा सकता है उसी को 'अनुशासन' कहते हैं।

दो प्रकार का अनुशासन—

'अनुशासन' दो प्रकार का है। 'सैनिक अनुशासन' और

'स्वतंत्र अनुशासन'। कोई समय था जब 'दण्ड शास्ति प्रजा सर्वा' का बोलबाला था। डंडा दिखाओ तो कोई बोल नहीं सकता था। योरोप में 'लॉक'-नामक शिक्षा शास्त्री हुए हैं। उनका कथन था कि डंडे के बिना बालकों को बस में नहीं रखा जा सकता। इस विचार के अनुयायी कहते थे कि बालक को जब कोई बात बार-बार कराई जाती है, अभ्यास से, वह उस का अंग बन जाती है। जैसे बार-बार के अभ्यास से शरीर की मांस पेशियां पुष्ट होती हैं, वैसे ही बार बार उन गुणों के अभ्यास कराने से जिन्हें हम बालक में डालना चाहते हैं वे गुण पुष्ट हो जाते हैं। अगर हम समझते हैं कि दूध पीना बालक के लिए हितकर है, तो वह चाहे न चाहे उसे जबर्दस्ती दूध पिलाना चाहिए, डंडे के जोर से, डरा धमका कर, हर तरह से पिलाना चाहिए। यही 'सैनिक अनुशासन' (Military discipline) है। परन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह उपाय ठीक नहीं है। जब बालक को कोई भी काम डंडे के जोर से कराया जाता है तब वह विद्रोह कर उठता है। यह बालक का ही नहीं, मनुष्य मात्र का स्वभाव है, और इसी कारण समाज में क्रान्तियाँ हुआ करती हैं। प्राचीन काल में जब राजा का एकछत्र शासन था तब स्कूलों में भी 'सैनिक शासन' को आधार बनाकर गुरु लोग शिक्षा पर 'अनुशासन' किया करते थे; जैसे राजा के एकतंत्र शासन से क्रान्तियाँ हुईं और हो रही हैं, वैसे गुरु के कठोर 'अनुशासन' से शिष्यों में भी विद्रोह मचता था, और मच रहा है। इसी कारण 'अनुशासन' के सम्बन्ध में एक नवीन 'मनोवैज्ञानिक' विचार-धारा ने जन्म लिया है जिसे 'स्वतंत्र अनुशासन' (Free discipline) कहा जाता है। जर्मनी में इसके सर्वप्रथम समर्थक 'किंडर गार्टन'-पद्धति के प्रवर्तक फ्रोबेल हुए हैं। उनका कथन था कि बालक को एक पौधा,

या भावी नागरिक समझकर चलना बड़ी गलती है। 'बालक' तो बालक है, और बालक समझ कर ही उसकी शिक्षा होनी चाहिए। बालक खेलना चाहता है, दौड़-धूप करना चाहता है, स्वतन्त्रता चाहता है। प्रकृति ने उसमें ये प्रवृत्तियाँ उसे बिगाड़ने के लिए नहीं, उसे बनाने के लिए रखी हैं। बालक को दबा कर नहीं, डरा-धमका कर नहीं, उसे स्वतंत्र छोड़ कर, खेलते-खेलते, वे सब गुण सिखाये जा सकते हैं जिन्हें हम जबर्दस्ती सिखाना चाहते हैं, और सिखा नहीं पाते। 'स्वतंत्रता' और 'परतंत्रता' में यही तो भेद है। जिस काम को हम जबर्दस्ती सिखाना चाहते हैं उसमें बालक अपने को परतन्त्र अनुभव करता है, इसलिए सीखने के स्थान में वह विद्रोह कर उठता है; जिसे उसकी इच्छा पर छोड़ देते हैं, परन्तु समझा देते हैं कि यह उसके लिए हितकर है, उसमें क्योंकि वह अपने को स्वतंत्र अनुभव करता है, इसलिए उसे सीख जाता है, विद्रोह नहीं करता।

विस्तृत तथा संकुचित अनुशासन—

'अनुशासन' पर विस्तृत तथा संकुचित—दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। विस्तृत दृष्टि तो यह है कि हम बालक को समाज के लिए तैय्यार कर रहे हैं, इसलिए समाज का सफल नागरिक होने के लिए जो गुण आवश्यक हैं उन्हें हम बालक को सिखाते हैं। इसका सबसे उत्तम उपाय तो यह है कि शिक्षक अपने आचरण से बालकों को सिखावे। जो शिक्षक स्वयं समय पर नहीं आता, स्वयं झूठ बोलता है, वह बालकों को समय पर आने और सत्य बोलने की शिक्षा दे, तो उसका कुछ प्रभाव नहीं पड़ सकता। विस्तृत दृष्टि से तो बालक को अपने जीवन से ही प्रभावित किया जा सकता है, परन्तु शिक्षक का असली प्रश्न तो स्कूल का नियंत्रण है। यही संकुचित दृष्टि से 'अनुशासन'

का प्रश्न है। शिक्षक अपने स्कूल के संकुचित क्षेत्र को दिन दिन और घड़ी घड़ी की समस्याओं का कैसे हल करे ?

अनुशासन में शिक्षक का कर्तव्य—

स्कूल में 'अनुशासन' ठीक रखने के लिए शिक्षक को निम्न बातों पर ध्यान रखना चाहिए - (1) [illegible]

(१) बालकों पर 'संकेत' (Suggestions) का बड़ा भारी प्रभाव होता है। बालक में 'संकेत' ग्रहण करने की असीम शक्ति होती है। अगर अध्यापक की भाव-भंगी से, उसकी हर बात से बालक पर यह प्रभाव पड़े कि उसे परिश्रम करना चाहिए, तो वह परिश्रमी हो जाता है, अगर बालक को जरा सा भी शरारत का इशारा मिल जाय तो वह झट से शरारत करने लगता है। कई अध्यापकों के इशारों से कभी कभी स्कूलों में हड़तालें हुआ करती हैं। (2) [illegible]

(२) निकम्मापन प्रायः शरारत का कारण हुआ करता है। जो बालक हर समय किसी उपयोगी काम में लगे रहते हैं उन्हें 'अनुशासन' भंग करने की फुरसत ही नहीं मिलती। नियन्त्रण कायम रखने के लिए शिक्षक को चाहिए कि प्रत्येक विद्यार्थी को किसी-न-किसी काम में लगाये रखे। (3) [illegible]

(३) नियन्त्रण ठीक रखने के लिए अध्यापक को अपने अन्दर 'मानसिक स्थिरता' Emotional stability) धारण करनी चाहिए। अगर विद्यार्थी को पता हो कि जरा सी बात से मास्टर साहब खुश हो जाते हैं, जरा सी बात से नाराज, तो लड़के ही मास्टर को बनाने लगते हैं। शिक्षक को झट से, बिना बात के क्रोध में और बिना बात के ठठ्ठा मार कर हँसते देखकर बालक को पता नहीं रहता कि वह किस पानी में है, शिक्षक उसके साथ न्याय कर रहा है, या अन्याय। जहाँ बालक पर यह

प्रभाव पड़ा कि शिक्षक उसके साथ अन्याय कर रहा है, वहीं अनुशासन भंग का बीज बोया गया।

(४) बालक पर जब यह प्रभाव पड़े कि अध्यापक अपना रौब जमाने के लिए कई बेकार आज्ञाएं देता है, तो वह भी जान-बूझ कर उन आज्ञाओं को भंग करने लगता है। आज्ञा दो, परन्तु साथ ही उस आज्ञा की सार्थकता को पूरी तरह से देख लो, उसमें कटुता मत आने दो, उसकी निरर्थकता सिद्ध हो जाय, तो उसे वापस ले लो।

(५) जैसा पहले कहा जा चुका है, कहने से करने का अधिक प्रभाव पड़ता है। कई अध्यापक अपने जीवन में हर नियम का उल्लङ्घन करते हैं, बालकों से किसी नियम का उल्लङ्घन होते देख कर आग-बबूला हो उठते हैं। ऐसे अध्यापक अपनी कमजोरी के कारण या तो बालकों को नियन्त्रण में रखते ही नहीं, रखने लगते हैं तो रख नहीं सकते, जबर्दस्ती करते हैं, तो विद्रोह खड़ा करा लेते हैं।

ऊपर जो बातें कही गई हैं उनका अधिकतर शिक्षक के साथ सम्बन्ध है। 'अनुशासन' के लिए कई ऐसी बातों पर ध्यान देना भी आवश्यक है जिनका विद्यार्थी के साथ सम्बन्ध है, और इन सब में बड़ी बात 'अनुशासन में स्वतन्त्रता' (Free discipline) है।

स्कूल में 'स्वतन्त्र-अनुशासन'—

यह युग 'जन-तन्त्र' का युग है, इसी भावना ने अनुशासन-क्षेत्र में भी प्रवेश कर लिया है। जिस देश में नियम अधिक तोड़े जाते हैं उसका यही कारण होता है कि जनता उन नियमों को पसन्द नहीं करती। जिन नियमों के पीछे जनता की आवाज होती है उन्हें तोड़ने की हिम्मत भी किसी में नहीं होती। स्कूल में

भी अगर विद्यार्थी अनुभव करें कि जो नियम चल रहे हैं उन्हीं के अपने बनाये हुए हैं, तो वे उनका उल्लंघन नहीं करेंगे। अध्यापक का काम विद्यार्थियों के सामने सारी स्थिति को इस प्रकार स्पष्ट कर देना है जिससे वे स्वयं उन नियमों को बनायें जिन्हें अध्यापक बनाकर उनपर थोपना चाहता है। यह ठीक है कि अब तक मुख्याध्यापक तथा अध्यापक ही नियम बनाते रहे हैं, इन नियमों को बनाने में उनकी योग्यता भी विद्यार्थियों से बहुत अधिक होती है, परन्तु अब जन-तन्त्र के युग में यह अनुभव किया जाने लगा है कि विद्यार्थियों का स्कूल के शासन-प्रबन्ध में हाथ होने से अनुशासन का कार्य आसान हो जाता है।

छोटे बच्चों तथा अध्यापकों में तो जमीन-आसमान का अन्तर होता है इसलिए वे तो अपना शासन स्वयं नहीं कर सकते, परन्तु बड़े बालकों तथा अध्यापकों में इतना भारी अन्तर नहीं होता, वे नियमों का महत्त्व समझ सकते हैं, अपना शासन भी अपने-आप कर सकते हैं, उन्हें जिम्मेवारी के काम भी दिये जा सकते हैं। जब बालकों के अपने कन्धों पर जिम्मेवारी आ पड़ती है तब अनुशासन में रहना वे स्वयं सीख जाते हैं, अध्यापकों तथा विद्यार्थियों में आये दिन का संघर्ष स्वयं दूर हो जाता है। विद्यार्थी अपना प्राधिक (Prefect) स्वयं चुनें, अपने शासन के नियम स्वयं बनायें, उन नियमों का जो उल्लंघन करे उसे स्वयं दंड दें—इस प्रकार 'अनुशासन' की समस्या को बहुत-कुछ हल किया जा सकता है।

अनुशासन में प्यार क्रम—

'अनुशासन' का वास्तविक अभिप्राय यह है कि जो नियम बनाये जाते हैं उनका पालन किसी बाह्य बन्धन के कारण न हो, आन्तरिक प्रेरणा से हो। इसके बजाय कि माता पिता या गुरु के

कहने से बालक किसी काम को करे, अगर वह आन्तरिक प्रेरणा से उस काम को करेगा, तो उस काम में उसे सच्चा आनन्द आयेगा। 'अनुशासन' बाहर का न रहे, अन्दर का होने लगे, इसके लिए 'अनुशासन' चार क्रमों में से गुज़रता है। ये क्रम निम्न हैं —

(१) प्रकृति द्वारा निश्चित कार्य-कारण के सम्बन्ध के अनुसार से बालक का नियंत्रण।

(२) बड़ों द्वारा पुरस्कार तथा दंड का भय दिखाकर नियंत्रण।

(३) समाज द्वारा निन्दा तथा स्तुति के कारण नियंत्रण।

(४) आत्म सम्मान के स्थायी-भाव बन जाने पर नियंत्रण।

जब बालक छोटा ही होता है तब उसे यह अनुभव होने देना आवश्यक है कि अगर वह उल्टा काम करेगा तो प्रकृति ही उसे दंड दे देगी। इस अवस्था में वह अपने अनुभव से बहुत-कुछ सीख जाता है। हम सब बचपन में आग से खेलते-खेलते अपने अनुभव से जान चुके हैं कि आग से हाथ जल जायगा। रूसो और स्पेंसर का कथन था कि बालक को दंड नहीं देना चाहिए, दंड देने का काम प्रकृति पर छोड़ देना चाहिए, और दंड देना हो तो ऐसा देना चाहिए जिसमें कार्य-कारण का सम्बन्ध स्पष्ट दिखाई देता हो। हम देखते हैं कि आग से खेलने से हाथ जल जाता है, चाकू से खेलने से हाथ कट जाता है, कोई चीज़ खो जाय तो उसके खोये जाने का दुःख बना रहता है। स्कूल में भी अगर बालक देर में आये तो उसे स्कूल के बाद रोके रखना, अगर गन्दे कपड़े पहने तो स्कूल में ही कपड़े धुलवा कर श्रेणी में बैठने देना कार्य-कारण के सम्बन्ध को सामने रख कर 'अनुशासन' करना है। यह क्रम बचपन का है, स्कूल में जाने से पहले का है।

परन्तु बालक को प्रकृति के ऊपर ही नहीं छोड़ा जा सकता। स्वयं परीक्षण करते-करते बालक अपने को नुक़सान भी पहुँचा सकता है। उसे यह बताना आवश्यक है कि कौन सी बात ठीक है, कौन-सी ग़लत। अगर वह कहे के अनुसार न करे तो उसे 'दण्ड' देना आवश्यक हो जाता है, काम करने के लिए प्रोत्साहित करने के लिए 'पुरस्कार' भी देना होता है। यह क्रम बचपन के बाद का है। इसके विषय में अगले अध्याय में लिखा जायगा।

'अनुशासन' में तीसरा क्रम समाज द्वारा निन्दा तथा स्तुति है। जब बालक दण्ड तथा पुरस्कार से ऊपर उठ जाता है तब वह नियमों का पालन करते हुए निन्दा तथा स्तुति को ध्यान में रखता है। स्कूल स्वयं एक समाज है। शिक्षक का कर्तव्य है कि स्कूल का मान-दण्ड इतना ऊँचा बनाये रखे जिससे कोई भी विद्यार्थी ऐसे काम को करता हुआ लज्जा अनुभव करे जो स्कूल के ऊँचे स्तर के प्रतिकूल हो, जिससे स्कूल की अप्रतिष्ठा होती हो, जिससे वह दूसरों की निन्दा का पात्र बने।

'अनुशासन' में सब से ऊँची अवस्था तब आती है जब बालक किसी दूसरे के कहने से नहीं, किसी दूसरे को सन्तुष्ट करने के लिए नहीं, अपने आत्मा के सन्तोष के लिए किसी नियम का उल्लङ्घन नहीं करता। यह अवस्था तब आती है जब बालक में 'आत्म सम्मान के स्थायी-भाव' (Self-regarding sentiment) का निर्माण हो जाता है। इस अवस्था में 'अनुशासन' बाह्य नहीं रहता, आन्तरिक हो जाता है, माता पिता, गुरुओं तथा बड़ों के सन्तोष के लिए नहीं होता, अन्तरात्मा के सन्तोष के लिए होता है।

२२

दण्ड तथा पुरस्कार

(PUNISHMENTS AND REWARDS)

'अनुशासन' का 'दंड' तथा 'पुरस्कार' के साथ विशेष सम्बन्ध है, विशेषतया स्कूल के 'अनुशासन' के साथ। सब से अच्छा 'अनुशासन' तो यह है कि बालक किसी काम को इसलिए करें क्योंकि यह काम अच्छा है, उसके न करने या करने में 'दण्ड और पुरस्कार', 'निन्दा और स्तुति' को ध्यान में न रखें; परन्तु ऐसा होता नहीं है। 'दंड' या 'निन्दा' के भय से बालक बुरे कामों से रुके रहते हैं, 'पुरस्कार' या 'स्तुति' की खुशी से अच्छे काम करते हैं। हम पहले 'दण्ड' और फिर 'पुरस्कार' पर विचार करेंगे।

१—दण्ड

दण्ड के उद्देश्य—

दण्ड के तीन उद्देश्य हो सकते हैं: 'बदला' (Retribution), 'सुधार' (Reformation) तथा 'प्रतिरोध' (Prevention)। जिस समय समाज अत्यन्त निचली अवस्था में था, जंगली था, उस समय बदला लेने की भावना से ही दंड दिया जाता था। आज भी फाँसी का दण्ड 'बदला' लेने के लिए ही दिया जाता है। दण्ड का असली उद्देश्य व्यक्ति का 'सुधार' तथा आगे से वह या दूसरा

कोई वैसा अपराध न करे, इस प्रकार का 'प्रतिरोध' करना है। स्कूल में तो 'सुधार' तथा 'प्रतिरोध' ही दण्ड का उद्देश्य हो सकता है, 'बदला' नहीं।

दण्ड की विशेषतायें—

दण्ड कैसा हो, इस सम्बन्ध में अनेक विचार प्रकट किये गये हैं जिनमें से बेन्थम के विचार प्रामाणिक माने जाते हैं। बेन्थम ने दण्ड की विशेषताओं का वर्णन करते हुए समाज को ध्यान में रखा है, परन्तु स्कूल के सम्बन्ध में भी ये विचार वैसे ही ठीक हैं। ये विचार निम्न हैं:—

(१) दण्ड अपराध के 'अनुपात' में (Proportionate) होना चाहिए। किसी अपराध के लिए कोई निश्चित दण्ड नहीं होना चाहिए, परिस्थिति तथा अपराधी की मनोवृत्ति के अनुसार उसमें ऐसा परिवर्तन किया जा सकना चाहिए जिससे अपराध और दण्ड में अनुपात बना रहे। स्कूल में देर से आने पर एक रुपया जुर्माना होगा—इस निश्चित नियम बनाने का परिणाम यह होगा कि जो बालक किसी ऐसे काम से देर में आया है जिसे समझने पर अध्यापक भी आवश्यक समझ सकता है उसे भी जुर्माना होगा, और विद्यार्थी को स्कूल के नियन्त्रण में अन्याय दीख पड़ेगा। जो बालक पश्चाताप कर रहा हो उसे भी नियमानुसार निश्चित दण्ड देना विचार-शून्य कार्य है। शारीरिक दण्ड, जुर्माना, झिड़कना आदि ऐसे दण्ड हैं जिन्हें परिस्थिति तथा व्यक्ति की मनोवृत्ति के अनुसार घटाया-बढ़ाया जा सकता है, और इन का इसी प्रकार उपयोग भी करना चाहिए। थोड़ी-सी बात पर जमीन आसमान एक कर देना शिक्षक के लिए अपनी अयोग्यता सिद्ध कर देना है।

(२) दण्ड अपराध के 'अनुरूप' (Characteristic)

होना चाहिए। विद्यार्थी को समझ आ जाना चाहिये कि इस अपराध के लिए ऐसा ही दण्ड क्यों दिया गया। देर से आने वाले को देर से जाने देना, मैले कपड़े वाले से स्कूल में ही कपड़े धुलवाना, अनुरूप दण्ड हैं; देर से आने पर कान पकड़वाना, मैले कपड़े होने पर बेंत मारना प्रतिरूप दंड हैं, ऐसे दंड हैं जिनका कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है, और न बालक की समझ में ही आ सकता है।

(३) दंड ऐसा होना चाहिये जिससे दूसरे भी वैसा अपराध करने से रुकें। वह उनके लिये 'उदाहरण-रूप' (Exemplary) हो। इस उद्देश्य से दंड सबके सामने देना चाहिए या नहीं, इस बात का निर्णय भिन्न भिन्न व्यक्तियों के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न करना होगा।

(४) दंड ऐसा होना चाहिये जो अपराधी का 'सुधार' करने वाला (Reformative) हो, उसकी नीच वृत्तियों को दबावे और उच्च-वृत्तियों को उभारे। अपराधी को जितना ही विश्वास होता जायगा कि उसे बदले की भावना से दंड नहीं दिया जा रहा उतना ही वह सुधरता जायगा।

(५) दंड ऐसा होना चाहिये जिससे अपराधी ने जो नुक़सान पहुँचाया है उसकी 'क्षति पूर्ति' करने वाला (Compensatory) हो।

(६) दंड ऐसा होना चाहिये जो 'सर्व-प्रिय' (Popular) हो, जिसे दूसरे भी ठीक कहें, ऐसा न हो जिससे सब विद्यार्थियों की सहानुभूति शिक्षक के साथ होने के स्थान में अपराधी के साथ हो जाय।

दंड के प्रकार—

इन दृष्टियों से विचार किया जाय तो दंड को दो भागों में

बांटा जा सकता है—'मृदु' तथा 'कठोर'। एकान्त में या सब के सामने भिड़क देना, अपमानित करना, अङ्क काट लेना, छुट्टी के समय रोक लेना, जुर्माना करना आदि 'मृदु' दंड हैं, मारना पीटना 'कठोर' दंड हैं। सबसे अच्छा तो यह है कि दंड देने की आवश्यकता ही न पड़े। जिस संस्था में जितना अधिक दंड दिया जाता है उसकी शासन व्यवस्था उतनी ही निकम्मी है, परन्तु अगर दंड देने की आवश्यकता पड़े भी तो कम से-कम, मृदु-से-मृदु, हल्के से हल्का दंड देना चाहिए, जब इनमें से किसी उपाय से काम न चले तभी कठोर दंड देना चाहिए।

भिड़कना (Reproof)—अगर गुरु शिष्य में प्रेम सम्बन्ध हो तो गुरु का शिष्य को अपराध के लिए भिड़क भर देना पर्याप्त होता है। कई अध्यापक जरा-सी बात पर भिड़कने लगते हैं, उन्हें इस बात का ज्ञान नहीं होता कि अपराध तथा दण्ड में 'अनुपात' होना चाहिए, ऐसा न हो कि छोटा-सा अपराध और बड़ा सा दंड, एवं बड़ा-सा अपराध और छोटा-सा दंड हो। जहाँ आँख के इशारे से काम चल जाय वहाँ भिड़कना भी उचित नहीं, बालक के स्वभाव को देखकर जहाँ सब के सामने भिड़कना आवश्यक हो वहाँ सबके सामने भिड़कने से चूकना भी उचित नहीं।

अपमानित करना (Disgrace)—कभी-कभी बालक को सबके सामने अपमानित करना आवश्यक हो जाता है। हरेक अपनी प्रतिष्ठा चाहता है, इसलिए बालक ऐसे कामों से बचना चाहता है जिनसे अपमान सहना पड़े। कोने में खड़ा करना, बच पर खड़ा कर देना ऐसे ही दंड हैं, परन्तु इन सबको देते हुए ध्यान रखना चाहिए कि बालक पर यह प्रभाव न पड़े कि अध्यापक उससे किसी प्रकार का बदला ले रहा है, उससे अन्याय कर रहा है,

सीमा से अधिक दंड दे रहा है, या ऐसा दंड दे रहा है जिसे अपराध के साथ किसी प्रकार जोड़ा ही नहीं जा सकता।

अंक काट लेना (Loss of marks)—सदाचार आदि के सम्बन्ध में विद्यार्थी को साल के शुरु में ५० अंक दिये जा सकते हैं, और ज्यों-ज्यों वह अपराध करता जाय त्यों-त्यों उसके अंक काटे जा सकते हैं। गुरुकुल कांगड़ी तथा कन्या गुरुकुल देहरादून में यह प्रथा है, और इसे 'व्रताभ्यास' कहा जाता है। 'व्रताभ्यास' के अंकों को माता पिता के पास भेजना चाहिए जिससे वे भी शिक्षकों के साथ बालक को समझाने में सहयोग दे सकें।

छुट्टी के समय रोक लेना (Detention)—कई स्कूलों में अपराधों के दण्ड रूप में बालकों को छुट्टी के समय रोक लिया जाता है, और उनसे कोई काम कराया जाता है। एक लड़के ने दूसरे को मारा, उसे छुट्टी में रोक लिया गया और संस्कृत के दस वाक्य लिखने को कहा गया। मारने का और संस्कृत के वाक्य लिखने का कोई सम्बन्ध नहीं, अतः यह दण्ड अपराध के अनुरूप नहीं है। ऐसे दण्ड देने का परिणाम यह होता है कि जो काम उससे कराया जाता है उसके साथ उसके मन में घृणा का सम्बन्ध हो जाता है। दंड देने के लिये विद्यार्थी को रोकना अनुचित नहीं है, परन्तु उस समय उससे कोई ऐसा काम करना चाहिए जिससे पढ़ाई से ही उसे घृणा न हो जाय।

जुर्माना (Fines)—अपराध के लिए जुर्माना करना बालकों को नहीं, माता पिता को दण्ड देना है। जो जुर्माना दे सकते हैं वे जुर्माने की परवाह नहीं करते। जुर्माना कम से कम करना चाहिए।

शारीरिक दंड (Corporal punishment)—ऊपर जिन दंडों का वर्णन किया गया है, वे 'मृदु' दण्ड हैं। मारना-पीटना

बेंत लगाना 'कठोर' दंड है। कठोर दंड देते हुए भी यह देखना आवश्यक है कि दंड अपराध के 'अनुरूप' है या नहीं, दंड तथा अपराध एक दूसरे के 'अनुरूप' हैं या नहीं, उनका कार्य-कारण का सम्बन्ध जुड़ सकता है या नहीं, क्या दंड देने से दूसरों के सामने ऐसा 'उदाहरण' उपस्थित हो जाता है जिससे उनमें से कोई वैसा अपराध न करे, क्या इससे अपराधी का 'सुधार' होता है, क्या ऐसा कठोर दंड तो नहीं दिया जा रहा जिससे सब विद्यार्थियों की 'सहानुभूति' अपराधी के साथ ही हो जाय, वह विद्यार्थियों का 'हीरो' बन जाय।

शारीरिक दंड के विषय में दो विचार धाराएं काम कर रही हैं। कुछ लोगों का कथन है कि शारीरिक दंड बिल्कुल नहीं देना चाहिए, कुछ लोग कहते हैं कि इसके बिना कई लड़कों को सीधा रखा ही नहीं जा सकता। प्रायः बालक देखना चाहते हैं कि बिना रोकटोके वे कहां तक शरारत में आगे बढ़ सकते हैं। ऐसे बालकों को जबतक यह न दिख जाय कि शरारत का मार्ग कठोर दंड का मार्ग है तबतक वे शरारत में आगे ही-आगे बढ़ते जाते हैं। हां, यह ठीक है कि शारीरिक दण्ड देते हुए अध्यापक को खूब सोच समझ लेना चाहिए कि वह क्रोध में तो दण्ड नहीं दे रहा, बदले से तो दण्ड नहीं दे रहा निस्वार्थ-भाव से दण्ड दे रहा है। ऐसे ही गुरुओं के लिए कहा गया है, 'सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः'– गुरु जब मारते हैं तब अमृतमय हाथों से मारते हैं, विष सने हाथों से नहीं।

२—पुरस्कार

दण्ड का आधार दुःख है, पुरस्कार का आधार सुख है। दण्ड की तरह पुरस्कार की भी कई विशेषताएं हैं जो निम्न हैं.—

पुरस्कार की विशेषताएँ—

(१) पुरस्कार ऐसे होने चाहिएं जिनसे बालक का सम्पूर्ण चरित्र प्रभावित हो। भिन्न भिन्न विषयों में प्रथम आने पर पुरस्कार देने की अपेक्षा सब विषयों में प्रथम आने वाले को पुरस्कार देना अधिक अच्छा है, इससे बालक का सीमित विकास होने के स्थान में सर्वांगीण विकास होता है।

(२) पुरस्कार प्राप्त करना ही बालक का लक्ष्य नहीं हो जाना चाहिए। बचपन में बालक पुरस्कार के लिए मेहनत करे इसमें कोई दोष नहीं, परन्तु ज्यों ज्यों वह बड़ा होता जाय, त्यों-त्यों पुरस्कार के बिना कार्य करने की आदत डालनी चाहिए, नहीं तो जब तक उसे कुछ लाभ नहीं दीखता वह श्रम करना नहीं चाहता, यह एक तरह की रिश्वत का रूप धारण कर लेता है।

(३) पुरस्कार दैनिक जीवन की साधारण बातों पर ही देना चाहिए, जीवन के मूल तत्वों पर नहीं। नियम-पालन, सफ़ाई, मेहनत, हरेक चीज़ को सम्भाल कर यथा-स्थान रखना आदि साधारण बातें हैं, इन पर पुरस्कार देना ठीक है, जीवन में भी इन बातों पर ध्यान देने से कुछ प्राप्ति ही होती है, परन्तु सत्य बोलना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, दूसरों की सेवा करना आदि जीवन के मूल तत्व हैं, इन का पुरस्कार के साथ सम्बन्ध जोड़ देना ठीक नहीं, इन्हें तो बालक को बिना पुरस्कार के करना सीखना चाहिए। झूठ बोलने पर दण्ड देना ठीक है, परन्तु सत्य बोलने पर पुरस्कार देना ठीक नहीं, क्योंकि सत्य तो बिना पुरस्कार के ही बोलना चाहिए। बेईमानी करने पर दण्ड देना ठीक है, परन्तु ईमानदारी पर पुरस्कार देना ठीक नहीं, क्योंकि वैयक्तिक हानि भी हो जाए, ईमानदारी तो बरतनी ही चाहिए।

(४) जिन बालकों में जन्म सिद्ध कई विशेष गुण हैं उनके लिए पुरस्कार देना अन्य बालकों को निरुत्साहित करना है, पुरस्कार न भी दिया जाय तब भी जिसमें जो गुण है वह तो है ही, फिर उस पर पुरस्कार देने या दूसरों को निरुत्साहित करने के अतिरिक्त कोई दूसरा असर नहीं हो सकता। अगर एक बालक ६ फीट लम्बा है, और दूसरा ४ फीट है, तो लम्बाई पर पुरस्कार रखना ४ फीट वाले को निरुत्साहित करने के सिवाय कोई लाभ नहीं पहुंचा सकता क्योंकि जो ६ फीट का है वह, पुरस्कार मिले न मिले, ६ फीट का रहेगा ही।

पुरस्कार के प्रकार—

पुरस्कार दो प्रकार के होते हैं। या तो पुरस्कार के रूप में हम बालकों को पुस्तक, पेंसल आदि 'चीजें' देते हैं, या उनकी 'प्रशंसा' करते हैं। इनाम में चीजें देने से बालकों का उत्साह बहुत बढ़ता है, यह जरूरी नहीं कि उस चीज का मूल्य बहुत अधिक ही हो। असल में इनाम में कोई चीज मिल जाने से बालक अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ा हुआ पाता है, इसलिए मुख्य. प्रशंसा ही सब से अच्छा पुरस्कार है। 'प्रशंसा' के रूप में शिक्षक के हाथ में एक ऐसा साधन है जिसका बालक को आगे बढ़ाने में वह बड़ा भारी उपयोग कर सकता है। जैसे झिड़क देने से बालक अपराध से रुक जाता है, वैसे प्रशंसा कर देने से उसकी शक्तियां तीव्र हो उठती हैं। शिक्षक का अन्तिम ध्येय यह होना चाहिए कि बालक किसी चीज को पाने या प्रशंसा के लिए, अर्थात् पुरस्कार के लिये कोई काम न करे, जो-कुछ करे अपना कर्तव्य समझ कर करे।

२३

पाठशाला तथा स्वास्थ्य-रक्षा

(SCHOOL HYGIENE)

प्रायः शिक्षा का उद्देश्य बालक का मानसिक-विकास करना समझा जाता है, शारीरिक नहीं। स्कूल में इतना पढ़ाया-लिखाया जाता है कि बालक का शरीर क्षीण होने लगता है। परन्तु सही शिक्षा का काम बालक के मन के साथ साथ उसके शरीर का भी पूरा-पूरा ध्यान रखना है। इस दृष्टि से शिक्षा सुधारकों के दो कर्तव्य हो जाते हैं—पहला तो 'पाठशाला' के स्थान, वायु, जल, नालियाँ, टट्टियाँ, स्नान गृह, खेल आदि का स्वास्थ्य प्रद प्रबन्ध करना है, दूसरा 'बालक' के रहन-सहन, कपड़ा, सफ़ाई आदि का ध्यान रखना है; पहले में 'पाठशाला' की स्वास्थ्य-रक्षा का प्रश्न आ जाता है, दूसरे में 'बालक' की स्वास्थ्य-रक्षा का प्रश्न आ जाता है। हम इस अध्याय में 'पाठशाला' की स्वास्थ्य-रक्षा पर प्रकाश डालेंगे, अगले अध्याय में 'बालक' की स्वास्थ्य रक्षा पर।

१—पाठशाला का स्थान तथा ज़मीन

पाठशाला का स्थान चुनते हुए अन्य बातों के साथ चारों तरफ़ की 'परिस्थिति' तथा 'ज़मीन' का ध्यान अवश्य रखना चाहिए।

स्थान अथवा परिस्थिति—

पाठशाला ऐसी जगह होनी चाहिए जहाँ भरपूर प्रकाश और वायु आती हो, शोर, गर्द धुआँ और दुर्गन्ध न आती हो, चारों तरफ हरियावल, बाग बगीचे हों। 'पर्वतानामुपह्वरे नदीनां च संगमे धियो विप्रा अजायत' पर्वतों के निकट, नदियों के किनारे विद्याध्ययन करने में जो आनन्द आता है वैसा दूसरी जगह नहीं आता, वहीं धीमान विप्र पैदा होते हैं। परिस्थिति के अतिरिक्त जमीन का ठीक ठीक चुनाव बहुत आवश्यक है।

जमीन ठीक होना चाहिए—

(१) जमीन के दो हिस्से होते हैं 'उपरि स्तर' (Surface soil) तथा 'अध स्तर' (Subsoil)। 'उपरि स्तर' में 'खनिज' (Inorganic) तथा 'ऐन्द्रियिक' (Organic) पदार्थ रहते हैं। 'ऐन्द्रियिक' पदार्थों में पशुओं की हड्डियाँ, वनस्पतियाँ आदि होती हैं; इसी कारण 'उपरि-स्तर' में 'कृमि' (Bacteria) रहते हैं। 'अध स्तर' में केवल खनिज' (Inorganic) पदार्थ रहते हैं अतः उसमें 'कृमि' नहीं रहते। पाठशाला का भवन बनाते हुए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि 'उपरि स्तर' पर सब जगह खोदाई हो जाय ताकि किसी प्रकार के कृमियों का डर न रहे।

(२) 'उपरि-स्तर' भी दो तरह का हो सकता है—'छिद्र युक्त' (Porous) तथा 'छिद्र रहित' (Impervious)। वर्षा के समय 'छिद्र युक्त' स्तर से पानी जमीन के भीतर रिस जाता है, और कृमियों तथा जमीन की घर्षण आदि को 'अध स्तर' (Subsoil) में भी पहुँचा देता है। जब गर्मी के कारण जमीन में भाप उठती है तब उसके साथ साथ नीचे पहुँची से योमारियों —कृमि तथा घर्षण—भी ऊपर आती हैं, अतः जमीन 'छिद्र युक्त' (Porous) न होकर 'छिद्र रहित' (Impervious) होनी चाहिए।

(३) 'छिद्र-युक्त' जमीन से जो पानी नीचे को रिसता है वह 'छिद्र रहित' स्तर के आ जाने पर और अधिक नीचे नहीं जा सकता, यह 'भू जल' (Ground water) कहाता है। किसी भी जगह के कुए को देख कर पता लगा सकते हैं कि वहाँ यह 'भू जल' कितनी दूर पर है। स्वास्थ्य-प्रद भूमि के लिए आवश्यक है कि वहाँ का 'भू-जल' पृथिवी के 'उपरि-स्तर' से कम से-कम १० फीट नीचे हो, इससे ऊपर नहीं।

(४) जिस प्रकार पृथिवी के नीचे जल है, इसी प्रकार भूमि में वायु भी रली मिली रहती है। 'छिद्र युक्त' (Porous) भूमि में ५० प्रतिशत वायु का मिश्रण रहता है। इस वायु को 'भू-वायु' (Ground air) कहते हैं। 'भू-वायु' में २ से ८ प्रतिशत तक 'कार्बन डाई ऑक्साइड' रहता है, इसमें 'ऑक्सीजन' साधारण वायु से बहुत कम रहता है, 'छिद्र-युक्त' होने के कारण इसमें 'उपरि-स्तर' के 'तैन्द्रियिक' (Organic) पदार्थ पहुँचते रहते हैं, उनके साथ-साथ 'कृमि' (Bacteria) भी 'उपरि-स्तर' से 'निम्न-स्तर' में जाते रहते हैं। जब जमीन के जल की सतह बहुत चढ़ी होती है, या गर्मी आदि के कारण वायु फैलती है, तब यह 'भू-वायु' ऊपर उठ आती है, और 'कार्बन डाई ऑक्साइड' को फैलाकर अनेक बीमारियों को पैदा कर देती है। इसलिए भी ऐसी जमीन का चुनाव करना चाहिए जो 'छिद्र युक्त' न हो, और जहाँ पानी बहुत नीचे हो।

२—वायु का स्वतंत्र गमनागमन

वायु का जीवन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है अतः यह देखना आवश्यक है कि बालकों को शुद्ध वायु मिलती है या नहीं। शुद्ध वायु में निम्न अश होते हैं:—

नाइट्रोजन ७६ प्रतिशत।

ऑक्सीजन २०.०६ प्रतिशत।

कार्बन डाई-ऑक्साइड .०४ प्रतिशत।

स्कूल में बैठे हुए बालकों के फेफड़ों से जो वायु बाहर निकलती है उसमें निम्न अंश होते हैं —

नाइट्रोजन ७६ प्रतिशत।

ऑक्सीजन १६ प्रतिशत।

कार्बन डाई ऑक्साइड ४.४ प्रतिशत।

वाष्प आदि कण ६ प्रतिशत।

इस प्रकार हमने देखा कि शुद्ध वायु में और स्कूल की वायु में बड़ा भेद है। शुद्ध वायु में '.०४ प्रतिशत 'कार्बन डाई ऑक्साइड' होती है, स्कूल की वायु में ४.४ प्रतिशत; शुद्ध वायु में २०.०६ प्रतिशत 'ऑक्सीजन' होती है, स्कूल की वायु में १६ प्रतिशत; शुद्ध वायु में फेफड़े से निकले दुर्गन्ध-युक्त अन्य पदार्थ नहीं होते, स्कूल की वायु में होते हैं—तात्पर्य यह है कि स्कूल की वायु में कार्बन अधिक तथा ऑक्सीजन कम होती है। इसके अतिरिक्त फेफड़ों से जो वायु निकलती है उसमें जल का अंश भी रहता है। यह जलीय-अंश स्कूल की हवा में फैल जाता है जिसका परिणाम यह होता है कि शरीर का पसीना उतना नहीं सूख पाता जितना तब सूखता अगर वायु मण्डल में जलीय अंश न होता। शुद्ध वायु तथा स्कूल की वायु में सब से बड़ा भेद 'कार्बन डाई-ऑक्साइड' का है, यही तो जीवन के लिए हानिकारक है। यह देखा गया है कि १०० घन फुट शुद्ध वायु में '०२ घन फुट 'कार्बन डाई-ऑक्साइड' और मिला दी जाय तो उसका स्वास्थ्य पर बहुत अधिक बुरा असर नहीं होता। इस दृष्टि से स्कूल की वायु में साधारण अवस्था की—अवस्था—ज्यादा से ज्यादा १०० घन फुट

जगह में '०२ घन फुट 'कार्बन डाई-ऑक्साइड' सहन की जा सकती है, अधिक नहीं। यह देखा गया है कि एक बालक एक घंटे में '४ घन फुट 'कार्बन डाई ऑक्साइड' पैदा करता है। '०२ घन फुट 'कार्बन' सहन करने के लिए १०० घन फुट शुद्ध वायु की आवश्यकता है, तो '४ घन फुट 'कार्बन' सहन करने के लिए २००० घन फुट शुद्ध वायु की आवश्यकता होगी। इसका अभिप्राय यह हुआ कि स्कूल में एक घंटे में एक बालक को शुद्ध हवा देने का प्रबन्ध करना हो तो उसे २००० घन फुट हवा मिलनी चाहिए। अगर स्कूल के कमरे में एक बालक के लिए १०० घन फुट जगह मानी जाय, अर्थात् छत से लेकर फर्श तक जितना क्षेत्र-फल कमरे का बने उसमें से प्रत्येक बालक के हिस्से १०० घन फुट जगह आये, तो एक घंटे में २० बार हवा को बदलना चाहिए ताकि बालक को (१००×२०) अर्थात २००० घन फुट शुद्ध हवा मिल सके। शुद्ध हवा न मिलने से बालक थक जाते हैं, उन्हें सिर दर्द होने लगता है, हृदय पर असर होता है, पढ़ाई ठीक से नहीं कर पाते। इसी लिए खुली हवा में, वृक्षों के नीचे पढ़ाना सबसे अच्छा है। अगर कमरों में ही पढ़ाना हो तो कमरे हवादार होने चाहियें, और दो-दो, तीन-तीन घंटे के बाद सब छात्रों को कमरे से बाहर निकाल देना चाहिए ताकि शुद्ध हवा प्रवेश कर सके। दरवाजे और खिड़कियाँ खोलकर रखने चाहियें। मकान बनाते हुए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि अशुद्ध हवा के निकलने और शुद्ध हवा के आने के लिए पर्याप्त रोशनदान और खिड़कियाँ हों। जैसा अभी कहा गया था, एक बालक को एक घंटे में कम-से-कम २००० घन फुट शुद्ध हवा मिलनी चाहिए। अगर माना जाय कि हवा १ सेकण्ड में ५ फुट की गति से चलती है तो एक बालक के लिए १६ वर्ग इंच रोशनदान तथा खिड़कियाँ चाहियें, तब उसे २००० घन फुट शुद्ध

हवा मिल सकेगी। अगर एक श्रेणी में ४८ विद्यार्थी हों तो प्रत्येक को २००० घन फुट हवा देने के लिए ५।। वर्ग फीट रोशनदान तथा खिड़कियां चाहियें।

३—जल-प्रबन्ध तथा नालियां

बालकों को बड़े आदमियों की अपेक्षा अधिक जल की आवश्यकता रहती है, अतः जल का पूरा प्रबन्ध होना चाहिए। अगर जल को भर कर रखा जाय तो जिस बर्तन में रखा जाय उसे खोल कर देख सकना चाहिए। जहां थोड़ा खोदने से ही पानी निकल आता है वहाँ जल की समय समय पर परीक्षा कर लेनी चाहिए कि कहीं उसमें भूमि के 'ऊपरी स्तर' से कृमियों का प्रवेश तो नहीं हो गया। अगर बालक कुए का पानी पीते हैं, और दीर्घावकाश में कुए का पानी निकलता नहीं रहा, तो स्कूल खुलने से पहले कुआं साफ करा लेना चाहिए। छात्रावासों में पानी का इतना प्रबन्ध होना चाहिए जिससे छात्र अच्छी तरह स्नान कर सकें, बर्तन मांज सकें, और आवश्यकता पड़ने पर कपड़े भी धो सकें। इस प्रकार जो पानी बह निकले उसे नालियों द्वारा बगीचे में पहुँचाना चाहिए, कीचड़ नहीं होने देना चाहिए। मकानों के लिए जैसी नालियां बनती हैं वैसी स्कूल में भी बननी चाहिए, पानी को कहीं इकट्ठे नहीं होने देना चाहिए। खुली नालियों की सफाई आसानी से हो जाती है, परन्तु अगर बन्द नालियाँ हों तो उन्हें ठीक से बनवाना चाहिए ताकि आवश्यकता पड़ने पर उन्हें खोला भी जा सके।

४—टट्टियां, मूत्रालय आदि

प्रायः समझा जाता है कि टट्टी, मूत्रालय, इत्यादि तो गन्दगी के लिए ही हैं, इन्हें साफ रखने की आवश्यकता नहीं। किसी अन्द

मुख्याध्यापक की परख ही यह है कि उसके प्रबन्ध में टट्टियों, मूत्रालयों, नालियों तथा चबचों की क्या अवस्था है। इन्हीं से मच्छर, मक्खी तथा तरह-तरह के कृमि उत्पन्न होते हैं। फिनायल आदि का भरपूर प्रयोग होना चाहिए। इसके अतिरिक्त सारे स्कूल की प्रतिदिन सफाई होनी चाहिए, शीशों पर गन्द जम जाने से प्रकाश नहीं आता, उन्हें साफ रखना चाहिए, दीवारों पर जाले नहीं लगने देने चाहिए, झाड़ू देते हुए दरवाजे, खिड़कियाँ खुली रखनी चाहिएं, नहीं तो सारा गर्द फिर वहीं आ बैठता है।

२४

छात्र तथा स्वास्थ्य-रक्षा

(PERSONAL HYGIENE)

छात्रों के स्वास्थ्य पर ध्यान देते हुए उनके वस्त्र, भोजन, शौच, सिर और पेट की सफाई, ठीक साँस लेना, निद्रा आदि पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। हम इनमें से प्रत्येक का संक्षिप्त वर्णन करेंगे :—

१—वस्त्र

शरीर का ताप-मान ६८·४ डिग्री है। यह बाहर की हवा से ज्यादा है। इतना ताप रहने से शरीर ठीक से काम करता है। परन्तु शरीर में जरूरत से ज्यादा ताप इकट्ठा न हो जाय इसलिए त्वचा, श्वास-प्रश्वास और मल मूत्र से ताप निकलता भी रहता है। श्वास-प्रश्वास और मल-मूत्र से निकलने वाले ताप का तो हम नियन्त्रण नहीं कर सकते, त्वचा द्वारा निकलने वाले ताप का नियन्त्रण कर सकते हैं, और इसीलिए वस्त्रों का उपयोग किया जाता है। ताप का यह नियम है कि यह जहाँ अधिक हो वहाँ से कम ताप वाली वस्तु में चला जाता है। शरीर का ताप क्योंकि बाहर की वायु से अधिक होता है अतः शरीर से हर समय ताप वायु में जाता रहता है। यह ताप जरूरत से कम न हो जाए इसके लिए वस्त्रों की

आवश्यकता है। कभी-कभी वस्त्र ताप को इतना अधिक रोक सकते हैं कि शरीर में गर्मी बहुत बढ़ जाए, इसलिए बहुत अधिक वस्त्रों का धारण करना भी हानिकर है। वस्त्र दो प्रकार का हो सकता है। 'वाहक' (Conductor) और 'अवाहक' (Non conductor)। सर्दियों में ऊन आदि ताप के 'अवाहक' वस्त्र धारण करने चाहियें, गर्मियों में सूत आदि ताप के 'वाहक'। इसके अतिरिक्त वस्त्र हल्का होना चाहिए। उसका सारा बोझ कन्धे पर पड़ना चाहिए, कमर में इस प्रकार कस कर नहीं बाँधा जाना चाहिए जिससे शरीर के भीतरी अङ्गों पर जोर पड़े, खुला होना चाहिए, बहुत तङ्ग नहीं होना चाहिए, बरसाती की तरह बिल्कुल छिद्र-हीन नहीं होना चाहिए। सिर पर टोपी, जुराबों के गार्टर, गले में कालर, पैर के जूते कभी कभी रक्त के संचार के स्वतन्त्र आने जाने को रोकते हैं, अतः इनका सम्भल कर प्रयोग करना चाहिए। कई बालकों के वस्त्रों से पसीने की बदबू आती रहती है। उन्हें मल-मल धो डालना चाहिए। रात के कपड़े अलग होने चाहिएं, दिन के अलग। कपड़े फटे नहीं रहने चाहियें। शिक्षक का कर्तव्य है कि इन सब बातों की तरफ ध्यान देता रहे, क्योंकि स्कूल में जो आदतें वे सीख जायेंगे, वे जीवन भर साथ बनी रहेंगी।

२—भोजन

हम पहले देख चुके हैं कि शरीर से हर समय गर्मी उत्पन्न होती और खर्च हो रही होती है। हमारी जो गर्मी खर्च हो रही है इसे मापा गया है। जैसे लम्बाई नापने के लिए १ इञ्च का पैमाना है, वैसे खर्च हो रही गर्मी नापने की इकाई को 'कैलोरी' (Caloric) कहते हैं। छोटे बालकों के शरीर में प्रतिदिन १६०० और बड़े बालकों के शरीर में २४०० 'कैलोरी' खर्च हो रही है। अतः बालकों को इतना भोजन मिल जाना चाहिए जिससे छोटों को

१६०० और बड़ों को २५०० 'कैलोरी' मिल जाएँ। भिन्न-भिन्न भोजनों में भिन्न भिन्न 'कैलोरी' उत्पन्न करने की शक्ति है। १ पौं० दूध में ३०८, १ पौं० जई में १८८६, १ पौं० चावल में १६५६, और १ पौं० पनीर में २०११ 'कैलोरी' होती है। भोजन का समय विभाग बनाते हुए प्रत्येक बालक को कितनी 'कैलोरी' चाहिए, इसका ध्यान रखना आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त खाद्य-पदार्थों को 'प्रोटीन', 'फैट', 'शुगर' और 'स्टार्च'— इन चार भागों में बाँटा गया है। भोजन में प्रोटीन की मात्रा पर्याप्त होनी चाहिए। शरीर में जो टूट फूट होती रहती है उसे प्रोटीन से ही पूरा किया जा सकता है। एक युवक को ५० ग्राम प्रोटीन मिलनी ही चाहिए। मटर में प्रोटीन २२·६३ प्रतिशत, पनीर में १५·४ प्रतिशत है। हमारे भोजन में 'शुगर' और 'स्टार्च' ही ज्यादा होता है, 'प्रोटीन' और 'फैट' कम होती है, इस तरफ अधिक ध्यान देना चाहिए।

भोजन में एक और तत्व माना जाता है जिसे 'विटेमिन' कहा जाता है। वैसे तो कई 'विटेमिन' हैं, परन्तु ४ मुख्य हैं। इन्हें विटेमिन 'ए'-'बी' 'सी'-'डी' कहा जाता है। 'विटेमिन ए' का काम शारीरिक वृद्धि है। यह न हो तो शरीर रोगों का मुकाबिला नहीं कर सकता, ताकत की कमी अनुभव होने लगती है। कॉड लिवर आयल, दूध, घी आदि में 'विटेमिन ए' होता है, परन्तु तलने से और अधिक गर्म करने से यह जाता रहता है। 'विटेमिन बी' का काम शरीर को सन्तुलित बनाये रखना है, मस्तिष्क को शक्ति पहुँचाना है। मटर, गेहूँ के छिलके आदि में यह पर्याप्त पाया जाता है। 'विटेमिन सी' सन्तरे, नारंगी, नींबू में पाया जाता है, इसकी कमी से मसूड़े फूल जाते हैं। 'विटेमिन डी' की कमी से हड्डियाँ कमजोर हो जाती हैं, दूध, दही, मक्खन में यह पाया जाता

है। भोजन के सम्बन्ध में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बालक को अपनी आयु के अनुसार पूरा भोजन और सब प्रकार के 'विटेमिन' मिलते रहें। मिठाई, चटनी, चाट, अचार, मिर्च, मसाले, चाय, काफ़ी की आदत बालकों को डाल देना ठीक नहीं।

३—दाँत

दाँत दो तरह के होते हैं—दूध के दाँत और पक्के दाँत। छः मास की अवस्था में दूध के दाँत निकलने शुरू होते हैं, सात-आठ वर्ष की अवस्था में उनके स्थान पर पक्के दाँत आने लगते हैं। पक्के दाँतों की संख्या ३२ होती है। मसूड़े तक दाँत की सफ़ेदी को 'इनैमल' कहते हैं, इसमें ज्ञान-तन्तु नहीं होते, इनैमल के नीचे भीतरी हिस्से को 'डेन्टाइन' कहते हैं, इसमें ज्ञान-तन्तु रहते हैं। 'इनैमल' सख्त होता है, 'डेन्टाइन' कोमल होता है।

मुख का रस 'अलकली' होता है, परन्तु अगर मुख में भोजन के छोटे छोटे टुकड़े पड़े रहें तो सड़ कर 'अम्ल' उत्पन्न कर देते हैं। यही अम्ल 'इनैमल' को खा जाता है, और इसे दाँतों में कीड़ा लगना, या 'केरीज़' कहा जाता है। 'इनैमल' के नष्ट हो जाने पर भीतर का 'डेन्टाइन' बाहर आ जाता है, खाते समय 'डेन्टाइन' के ज्ञान-तन्तुओं को, ठंडे से, मीठा आदि लगने लगता है। भोजन के टुकड़ों के सड़ने से उत्पन्न हुए 'अम्ल' को रोकने के लिए 'सोडा बाई-कार्ब' या 'बोरैक्स' या किसी 'एन्टी-सेप्टिक' के साथ प्रयोग करने से मुख शुद्ध रहता है, दाँत खराब नहीं होते। दूध के दाँतों को भी मंजन से साफ़ करना आवश्यक है, क्योंकि सड़े हुए दाँत के बाद सड़ा हुआ दाँत निकलने की सम्भावना रहती है। नीम की दातुन अच्छी है, इससे मुख का स्वाद भी ठीक बना रहता है। प्रातः उठने के बाद और सोने से पहले दाँत साफ़ कर लेना अच्छा है। बच्चों के दाँतों की तरफ़ बहुत अधिक ध्यान देने की आवश्य

कता है क्योंकि दाँत के दर्द को ठीक करने की अपेक्षा दर्द न होने देना अधिक बुद्धिमत्ता है।

४—सिर की सफाई

वैसे तो सभी अंगों की सफाई आवश्यक है, परन्तु बच्चों के सिर की सफाई का प्रश्न बहुत विकट है। लड़कियों और लड़कों के सिर जूओं से भरे रहते हैं। एक जूं की आयु तीन चार सप्ताह तक की है, और इस अरसे में वह सौ अण्डे दे देती है जिन्हें लीख कहते हैं। एक से दूसरे तक पहुंचने में इन्हें देर नहीं लगती। बालक खुजा खुजा कर तंग हो जाते हैं। जिस बालक के जूएं पायी जायें उसे अन्य बालकों से पृथक् कर देना चाहिए और रात को सोने से पहले साबुन से सिर धोकर सिर में अच्छी तरह से 'पैरेफ़ीन ऑयल' मल देना चाहिए। दो तीन रात लगातार साबुन से सिर धोकर 'पैरेफ़ीन ऑयल' लगाने से जूएँ मर जाती हैं, और पतली कंघी फेरने से लीख निकल जाती हैं। कभी कभी गन्दे कपड़े रखने से 'कपड़े की जूं' पैदा हो जाती हैं। इनका इलाज ऐसे कपड़ों पर इस्त्री करा देना है। इस्त्री की गर्मी से ये मर जाती हैं। जब तक किसी बालक के सिर या कपड़ों में जूएं हों तब तक उसे दूसरों के साथ नहीं मिलने देना चाहिए।

५—पेट की सफाई

दाँत ठीक न होने से पाचन-शक्ति पर बुरा प्रभाव पड़ता है, दांतों का काम पेट को करना पड़ता है। पाचन ठीक न होने से पेट साफ़ नहीं होता, और बालक को कब्ज़ की शिकायत रहती है। ठीक समय पर पेट का साफ़ होना अत्यन्त आवश्यक है। गन्दी और सड़ी हुई हवा से बीमारी होती है, इसे सब कोई जानते हैं,

परन्तु पेट में जो गन्दी और सड़ी हवा जमा रहती है उसकी तरफ हमारा ध्यान नहीं जाता। प्रातःकाल ठीक समय पर प्रतिदिन शौच जाने से उसी समय शौच जाने का अभ्यास हो जाता है, और आयु पर्यन्त यह अभ्यास स्वास्थ्य को ठीक बनाये रखता है, औषधियों की आवश्यकता नहीं रहती। पेट में कृमि हों तो बालक सोते हुए दाँत किटकिटाता है, उसके पेट में एकदम दर्द हो उठता है, कभी-कभी मृगी आने लगती है, ऐसे समय डाक्टर को दिखाकर फौरन इलाज कराना चाहिये।

६—साँस ठीक से लेना

नाक का काम साँस लेना है, परन्तु कई बालक मुख से साँस लेते हैं। मुख से साँस लेने का कारण आदत भी हो सकती है, परन्तु प्रायः इसका कारण नाक का रुक जाना है। नाक रुकने के अनेक कारण हैं, सर्दी लग जाना, नाक की झिल्ली का मोटा पड़ जाना, नाक में पत्थर, इमली आदि का फँस जाना तथा 'एडिनायड' से बच्चे मुख से साँस लेने लगते हैं। 'एडिनायड' नाक की भीतरी सतह पर, जहाँ नाक मुँह में खुलती है, मोटे मोटे दानों के पैदा हो जाने का नाम है। प्रायः व्यायाम से 'एडिनायड' ठीक हो जाते हैं, परन्तु बढ़ जाँय तो इनका आपरेशन करा देना अच्छा है। अध्यापक को चाहिए कि जो बालक मुख से साँस लेते हैं उनका ध्यान रक्खें।

फेफड़ों से हम शुद्ध हवा लेते हैं। फेफड़े आप ही हवा की आक्सीजन रुधिर में मिलाते और कार्बन गैस बाहर निकालते हैं। साधारणतः हमारा साँस फेफड़ों के ऊपर ऊपर ही रहता है, फेफड़ों की गहराई तक नहीं पहुँचता, इसलिए सारे फेफड़ों में 'आक्सीजन' नहीं पहुँच पाती। गहरा साँस लेने से पूरे फेफड़ों में 'आक्सीजन' पहुँच जाती है।

७—नींद

बालक की नींद कम करना उसका भोजन कम कर देने के समान है। ६ वर्ष से कम के बालक को १३ घण्टे सोना चाहिए, ७ वर्ष के बालक को १२½ घण्टे, ८ वर्ष के बालक को १२ घण्टे, इस प्रकार १६ वर्ष तक आध-आध घण्टे कम करते हुए १६ वर्ष के व्यक्ति को ६ घण्टे सोना चाहिए। कई लोगों का विचार है कि मानसिक कार्य की थकावट को शारीरिक परिश्रम से दूर किया जा सकता है। यह ग़लत धारणा है। मानसिक तथा शारीरिक थकावट—दोनों थकावटें हैं, और थकावट की दूरी नींद से, विश्राम से होती है। प्राय: देखा गया है कि कम नींद लेने पर बालक लिखने-पढ़ने में ज्यादा अशुद्धियाँ करता है, वही बालक नींद ले लेने पर कम अशुद्धियाँ करता है। बालकों की वृद्धि का अधिक भाग नींद लेते समय होता है, अत नींद में कमी नहीं आने देनी चाहिए। छोटे बालकों का स्कूल के समय भी सोने का प्रबन्ध करना चाहिए। इस के बजाय कि बालक सब अन्तरों में सोते रहें, या ऊंघते रहें, किसी एक निश्चित समय पर आध घण्टे के लिए सुला दिये जायं, तो उनमें नव-जीवन आ जाता है। दीर्घावकाश का महत्व यही है कि उस में अत्यन्त परिश्रम कर लेने के बाद बालकों को आराम करने का समय मिल जाता है। हमारे बालकों को जितना मानसिक परिश्रम करना पड़ता है, उसके साथ दीर्घावकाश न हो तो कई बालकों का स्वास्थ्य बिल्कुल गिर जाय। दीर्घावकाश के समय को साल भर में बाट देना अधिक उपयोगी है।

२५

बैठने-उठने का ढंग

(POSTURES)

बालक भिन्न भिन्न ढंगों से बैठते, खड़े होते हैं। गलत तरीके से बैठने और खड़े होने से शरीर के कई अंग विकृत हो जाते हैं, रीढ़ की हड्डी टेढ़ी हो जाती है, आँखों पर जोर पड़ने से वे कमजोर हो जाती हैं। क्योंकि बालक को अधिक समय पाठशाला में बैठे-बैठे बिताना होता है अतः उसके अंगों के विकृत हो जाने की अधिक जिम्मेवारी शिक्षक पर आ पड़ती है। प्रायः चार अवस्थाओं में बैठने आदि की आवश्यकता पड़ती है अतः इन चारों के समय बालक के शरीर के ढंग पर ध्यान देना चाहिए—(१) गुरु से सुनते समय, (२) स्वयं पढ़ते हुए बैठना, (३) लिखते समय बैठना तथा (४) खड़ा होते हुए अंगों का सम तोलन। हम इन चारों पर कुछ-कुछ विचार करेंगे :—

गुरु से सुनते समय बैठने का ढंग—

गुरु से विद्या ग्रहण करते समय बालक को सुनना होता है। उस समय सबसे अच्छा बैठने का तरीका यह है कि कटि प्रदेश के नीचे का भाग कुर्सी पर सम रूप से टिका हुआ हो, और रीढ़ की हड्डी सीधी रहे। ज्यादातर बैठने में रीढ़ की हड्डी पर ही जोर पड़ता है अतः उसी पर ध्यान देना आवश्यक है। सीधा बैठने में रीढ़ की हड्डी में चार घुमाव पड़ते हैं। गले के पीछे घुमाव अन्दर को

होता है, कन्धों के पास आकर बाहर को, वहाँ से पेट के पीछे की तरफ अन्दर को, और फिर बाहर को। बालक जब गलत तरीके से बैठता है तब पेट के पीछे का घुमाव अन्दर की तरफ होने के बजाय बाहर की तरफ आ जाता है। बार-बार इस स्थिति में आने से कमर झुकने लगती है। बालक को सीधा बैठना चाहिए ताकि रीढ़ की हड्डी झुकने न पाये। सीधा भी देर तक वह नहीं बैठ सकता इसलिए पीठ के पीछे ऐसा सहारा होना चाहिए जो उसे ठीक स्थिति में बैठने में सहायता पहुँचाये।

स्वयं पढ़ते समय बैठने का ढंग—

पढ़ते समय भी सीधा बैठना चाहिये, पुस्तक आँख से १२ इन्च दूर रखनी चाहिये, नजदीक रखने से नजर छोटी हो जाती है, पकड़ने से ज्यादा दूर तो बालक स्वयं ही नहीं रखता। पुस्तक को न तो आंख के बिल्कुल नीचे ही रखना चाहिए, न सिर सीधा करके बिल्कुल उसकी सीध में, आंख से ४५ अंश के कोण में पुस्तक रखकर पढ़ना चाहिये। प्रकाश बायें कन्धे के ऊपर से पुस्तक पर पड़ना चाहिये, आंख पर नहीं पड़ना चाहिए। बालक कभी कभी बहुत आगे झुककर पढ़ने लगते हैं। आगे झुकने से छाती सकुचित हो जाती है, पेट पर सारा बोझ आ पड़ता है, हृदय पर दबाव पड़ता है, इस प्रकार बैठने से बालकों को रोकना चाहिये।

लिखते समय बैठने का ढंग—

बालक की रीढ़ की हड्डी पर सबसे अधिक बुरा प्रभाव लिखते समय गलत बैठने का पड़ता है। लिखने से रीढ़ की हड्डी पर जोर पड़ने से वह दाईं तरफ झुक जाती है। दाईं तरफ इसलिये झुक जाती है क्योंकि बालक दाएँ हाथ से लिखता है, और लिखते समय दाईं तरफ ही वह अधिक झुकता है। इसके जोर पड़ने

से रीढ़ का दायाँ हिस्सा उभर आता है। लिखते समय बालक मानो शरीर की माँस-पेशियों से कुश्ती कर रहा होता है। किसी बालक को लिखते समय देखने से स्पष्ट हो जायगा कि वह सिर से लेकर पैर तक सब अंगों का प्रयोग करता है, कभी भौं तानता है, कभी दायें को होता है, कभी बायें को होता है, कभी टखर्वां बदलता है, कभी पेंसिल को ऊपर से, कभी नीचे से दबाता है। इसका यह अभिप्राय है कि जितना हम समझते हैं, लिखना बालक के लिए उतना साधारण काम नहीं है, और इस असाधारण प्रक्रिया को सीखते सीखते बालक के अंग विकृत हो जाने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। अगर हम ध्यान रखें कि शुरू में बालक (१) लिखना किस प्रकार सीख रहा है, (२) किस ढंग का लिखना सीख रहा है, (३) किस प्रकार पेंसिल आदि को पकड़ता है, (४) बायें हाथ का प्रयोग करता है या नहीं, (५) लिखते समय कैसे बैठता है, तो लिखने से उत्पन्न होने वाले अनेक दोषों को दूर किया जा सकता है।—

लिखना सीखने के प्रकार पर शिक्षा शास्त्रियों का कथन है कि शुरू शुरू में एक साल तक छोटे अक्षर नहीं सिखाने चाहियें। पहले-पहल रंगीन चाक से कृष्ण-पट पर भिन्न भिन्न, बड़ी बड़ी, गोल, अर्ध गोल, सीधी, टेढ़ी लकीरें लगाने का अभ्यास कराना चाहिए। इसके बाद दो इंच बड़े अक्षर लिखने का अभ्यास कराना चाहिए। क्योंकि वह सब खड़े खड़े होगा अतः किसी विशेष अंग पर जोर नहीं पड़ेगा। तीसरे वर्ष पेंसिल और अन्त में कलम हाथ में देनी चाहिए। लिखने के ढंग पर शिक्षा-शास्त्रियों का कथन है कि अक्षर सीधे लिखने का अभ्यास कराना चाहिए, टेढ़े नहीं। टेढ़े अक्षर लिखने में एक तरफ झुकना पड़ता है जिस में शरीर का दबाव एक तरफ पड़ने से रीढ़ की हड्डी के झुक जाने

का भय है। पेंसिल आदि पकड़ने के ढंग पर शिक्षा-शास्त्रियों का कथन है कि लेखनी को इस प्रकार पकड़ना चाहिए जिसमें हथेली सीधी रहे, हाथ को काग़ज़ पर बिल्कुल उल्टा करके नहीं लिखना चाहिए। बायें हाथ के प्रयोग न करने से सारा बोझ दायें हाथ पर, और दायें हाथ से शरीर के दायें भाग पर पड़ता रहता है। इसे दूर करने के लिए बायें हाथ से काग़ज़ को पकड़े रहना, उसे लिखते समय आवश्यकतानुसार ऊपर करते रहना ठीक है। कभी-कभी बायें हाथ से लिखने का भी अभ्यास कराना चाहिए, इससे शरीर को लाभ पहुँचता है। लिखते हुए बैठते समय काग़ज़ बालक के बिल्कुल सामने रखना चाहिए। कई बार काग़ज़ को दूर एक तरफ़ रख कर बालक लिखने लगते हैं। लिखते समय पैर ज़मीन पर सम रूप में टिकाये रखना चाहिए। किसी एक तरफ़ भार नहीं पड़ना चाहिए।

खड़े होते समय अंगों का समतोलन—

खड़े होने में सबसे अच्छा तरीका तो यह है कि दोनों एड़ियाँ एक दूसरे से ज़रा दूर, परन्तु आमने सामने रहें, और शरीर का सारा बोझ दोनों टाँगों पर बराबर पड़े, छाती उभरी रहे, सिर सीधा, ठोड़ी ज़रा आगे को रहे। परन्तु इस स्थिति में भी बालक देर तक नहीं रह सकता। इस स्थिति का बदलना हो तो एक टाँग कुछ आगे रख कर दूसरी टाँग पर बोझ डाल देना चाहिए, और इस प्रकार टाँग को आगे पीछे बदलते रहना चाहिए। मतलब यह होना चाहिए कि सब अंगों पर उनकी शक्ति के अनुसार समान बोझ पड़े, और अगर किसी अंग पर देर तक बोझ पड़ता रहे, तो उसे आराम का समय भी मिल जाय। इसी को 'योग दर्शन' ने 'तत्र स्थिर-सुखं आसनम्' कहा है—जिसमें आराम मिले वही आसन है, वही बैठने उठने का ठीक तरीका है।

२६

ब्राह्मण-काल में शिक्षा

[EDUCATION IN ANCIENT (BRAHMANIC) PERIOD]

'शिक्षा' की समस्या कोई आज की ही समस्या नहीं है। जब से माता-पिता तथा पुत्र का सम्बन्ध बना है, तभी से माता पिता के लिए अपने पुत्र की शिक्षा की समस्या बनी रही है। आदि-कालीन माता-पिता के सम्मुख यह प्रश्न था कि उन तक जो ज्ञान स्पष्ट रूप में पहुंचा है, अथवा जिन नई बातों का उन्होंने स्वयं पता लगाया है, उन्हें आगामी सन्तति तक वे कैसे पहुंचायें? अगर वे बाप-दादा से पाये हुए, और स्वयं उपार्जित किये ज्ञान को किसी सुगम उपाय से अपनी सन्तति को दे सकते हैं, तब तो मानव-समाज और उसके साथ-साथ उनकी सन्तान भी उन्नति करती जायगी, अगर नहीं दे सकते तब मनुष्य हर युग में हर बात को नये सिरे से ढूंढने में ही लगा रहेगा। इसी समस्या के हल को 'शिक्षा' का नाम दिया जाता है। जैसे इस समस्या का हल हम आज कर रहे हैं, वैसे ही सुदूर-भूत में, ब्राह्मण-काल में, प्राचीन भारत के ऋषियों-मुनियों ने इस समस्या का हल निकाला था। यह हल क्या था?

'शिक्षा' तथा 'संस्कार'—

भारत के प्राचीन शिक्षा शास्त्रियों ने 'बालक' को शिक्षा का केन्द्र माना था। आज एक लम्बे-चौड़े इतिहास में से गुजरने के बाद युरुप में 'बालक' को शिक्षा का केन्द्र माना जाने लगा है, नहीं तो शिक्षक, स्कूल और पाठ्य क्रम को ही मुख्य माना जाता रहा, बालक का कहीं पता भी नहीं था। प्राचीन भारत की पाठ्य प्रणाली में 'बालक' को इतना महत्त्व दिया गया था कि उसी के जन्म सुधार के लिए १६ संस्कारों की कल्पना की गई थी। ऋषियों का कथन था कि 'बालक' पर निम्न तीन प्रकार के संस्कार प्रभाव डालते हैं —

१ अपने पिछले जन्म के संस्कार
२ माता-पिता के संस्कार
३ परिस्थिति से पड़ने वाले संस्कार १

'बालक' की शिक्षा क्या है, मानो 'संस्कारों' का ही एक खेल है। परिस्थिति के द्वारा पड़ने वाले 'संस्कारों' से माता पिता द्वारा आने वाले संस्कार प्रबल होते हैं; माता पिता द्वारा आने वाले संस्कारों की अपेक्षा भी अपने पिछले जन्म से आने वाले संस्कार प्रबल होते हैं। शिक्षा का प्रश्न संस्कारों का प्रश्न है। अगर अपने पिछले जन्म के संस्कार ही इस जन्म में प्रबल रहेंगे तब निस्सन्देह शिक्षा का प्रश्न एक अत्यन्त जटिल प्रश्न हो जायगा। भारत के प्राचीन शिक्षा-शास्त्री 'पुनर्जन्म' और 'कर्म' के सिद्धान्त को मानते थे, इसलिए वे यह भी मानते थे कि शिक्षा द्वारा पिछले जन्म के संस्कारों को सर्वथा नहीं बदला जा सकता। क्योंकि उनके सम्मुख यह जटिल समस्या थी कि पिछले जन्म के संस्कारों के साथ [redacted] कैसे टक्कर लें इसलिये उन्होंने 'संस्कारों' के विषय को एक गम्भीर प्रश्न बना दिया, और जीवन को प्रारम्भ से अन्त तक शुद्ध संस्कारों के संचय का प्रश्न बना लिया था। मनुष्य क्योंकि पिछले जन्म

के तथा माता-पिता के संस्कारों का परिणाम होता है, इसलिये इस जन्म में उसे ऐसे वैसे संस्कारों से नहीं बदला जा सकता, जन्म भर उस पर संस्कार पड़ते रहने चाहियें, तब जाकर कोई प्रत्यक्ष परिणाम निकल सकेगा – इस दृष्टिकोण को लेकर प्राचीन ऋषियों ने 'शिक्षा' के प्रश्न पर विचार किया है और इस जन्म में १६ संस्कारों का वर्णन किया है।

संस्कारों के दो भाग—

संस्कारों को दो भागों में बाँटा गया है। उत्पत्ति से पूर्व के (Pre natal), तथा उत्पत्ति के बाद के (Post natal)। उत्पत्ति के पूर्व के संस्कार हैं, गर्भाधान, पुन्सवन तथा सीमन्तोन्नयन। क्योंकि माता-पिता के संस्कार का बालक पर प्रभाव पड़ता है अतः 'गर्भाधान' संस्कार एक महत्त्वपूर्ण संस्कार है। माता-पिता को यह समझना चाहिये कि वे किसी ऊँची आत्मा का आह्वान कर रहे हैं—यही इस संस्कार का उद्देश्य है। जब जीव माता के गर्भ में प्रवेश कर जाय और उसका शारीरिक-विकास होने लगे तब 'पुन्सवन' संस्कार किया जाता है। इसका अभिप्राय यही है कि माता पिता ऐसा अन्न खायें, ऐसा रहन-सहन रक्खें जिससे बालक का शारीरिक विकास ठीक दिशा की तरफ चल सके। पुन्सवन के बाद छठे या आठवें मास में 'सीमन्तोन्नयन' संस्कार किया जाता है। सीमन्त में माता अपने सिर में तेल लगाती है, कंघा करती है। यह वह समय है जब गर्भस्थ शिशु के मस्तिष्क का निर्माण होने लगता है। इस संस्कार का यह उद्देश्य है कि माता शिशु के मस्तिष्क के समुचित विकास का ध्यान रक्खेगी। शिशु के उत्पन्न होने के अनन्तर जो संस्कार किये जाते हैं वे बाद के (Post-natal) संस्कार हैं। इनमें से कई संस्कार तो केवल स्वास्थ्य-रक्षा की दृष्टि से निश्चित किये गये हैं। अन्न-प्राशन, निष्क्रमण,

कर्ण-वेध आदि संस्कारों का महत्त्व स्वास्थ्य-रक्षा की दृष्टि से कम नहीं है, और इन सब पर इतना बल देना सिद्ध करता है कि भारत की प्राचीन शिक्षा-प्रणाली में 'बालक' को अत्यन्त महत्व-पूर्ण स्थान प्राप्त था। इन संस्कारों के बाद 'उपनयन' संस्कार आता है। उपनयन संस्कार का सीधा सम्बन्ध 'शिक्षा' से था। 'शिक्षा' के सम्बन्ध में प्राचीन दृष्टि-कोण अधिक स्पष्ट करने के लिये हम 'शिक्षा' के पाँच पहलुओं पर विचार करेंगे। ये पहलू निम्न लिखित हैं :—

१. परिस्थिति (Surrounding)
२. शिष्य अथवा ब्रह्मचारी (Pupil)
३. गुरु अथवा आचार्य (Teacher)
४. अध्यापन के विषय (Curriculum)
५. अध्यापन की विधि (Method of teaching)

'शिक्षा' तथा 'परिस्थिति'—

शिक्षा के लिए 'परिस्थिति' अत्यन्त आवश्यक है। परिस्थिति के तीन भाग किये जा सकते हैं। भौतिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक। मानसिक तथा आध्यात्मिक परिस्थिति के लिए तो शिक्षा संस्था का निर्माण होता ही है, वे लोग शिक्षा के लिए भौतिक परिस्थिति को भी अत्यन्त आवश्यक समझते थे। उनका विचार था कि शिक्षा के केन्द्र ग्रामों तथा शहरों के बाहर प्रकृति की गोद में होने चाहियें। 'उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनां धियो विप्रो अजायत'—पर्वत की उपत्यका तथा नदी के तट पर विप्र बनता है। प्राचीन काल के शिक्षा केन्द्र ऋषियों के आश्रमों में होते थे, और ये आश्रम शहरों में न होकर वनों में होते थे। जंगल में रहने के कारण बालक शहर के विषैले संस्कारों से बचे रहते थे।

बालक को भौतिक दृष्टि से जहाँ शुद्ध परिस्थिति में रखा जाता था वहाँ मानसिक दृष्टि से भी यह प्रयत्न किया जाता था कि उसे

उसके मानसिक विकास के अनुकूल वातावरण में रखा जाय। घर में माता पिता बालक की शिक्षा पर उचित ध्यान नहीं दे सकते अतः उसे घर से बाहर किसी दूसरे के पास भेजना आवश्यक है, परन्तु बाहर भेजने पर उसे घर का सा- माता-पिता का-सा प्रेम न मिलने से उसका समुचित विकास न हो सकेगा अतः उसका घर पर रहना आवश्यक है—इस समस्या का हल करने के लिए उन्होंने 'गुरुकुल पद्धति' का निर्माण किया था। 'गुरुकुल' का अर्थ था—गुरु का 'कुल'। घर में शिक्षा ठीक प्रकार नहीं चल सकती। माता-पिता लाड़ प्यार में बालक को बिगाड़ देते हैं, अतः बालकों को घर से तो बाहर ही भेज दिया जाय, परन्तु बाहर भेज कर भी एक घर से उसे दूसरे घर में ही भेजा जाय, एक 'कुल' से दूसरे 'कुल' में भेजा जाय, एक माता पिता से दूसरे माता पिता के पास भेजा जाय, एक परिवार से दूसरे परिवार में भेजा जाय—'गुरुकुल-शिक्षा प्रणाली' का यही आधार-भूत तत्व था। बालक शिक्षा पाने के लिए अपने माता-पिता को छोड़ कर गुरु के परिवार को माता-पिता मान कर जाता था और उसी के कुल को अपना कुल मान लेता था। इस समय भी देखने में आता है कि अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य कहने वालों का एक ही 'गोत्र' पाया जाता है। वसिष्ठ गोत्र ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों—सभी का हो सकता है। यह इसलिए है क्योंकि एक ही गुरु के पास सभी वर्णों के लोग शिक्षा पाने के लिए जाते थे, और वहाँ रहते हुए वे सब उस गुरु को ही अपना पिता माता समझते थे, और आपस में एक-दूसरे को भाई-भाई मानते थे। यह भावना यहाँ तक बढ़ी हुई थी कि जैसे एक ही माता पिता की सन्तान में विवाह करना वर्जित था वैसे एक ही गुरु के शिष्यों में विवाह-सम्बन्ध वर्जित माना गया था। सगोत्र-विवाह भारतीय प्रथा के प्रतिकूल है। एक ही आश्रम में रहते

हुए शादी विवाह की चर्चा न चल पड़े, विद्यार्थियों का ध्यान पढ़ने लिखने में ही लगा रहे, वे गुरु पत्नी को अपनी माता, गुरु पुत्री को अपनी बहन समझें—इस भावना को दृढ़ करने के लिए सगोत्र विवाह को वर्जित ठहराया गया था, इसमें और कोई दूसरा कारण न था।

गुरु का 'कुल' शुद्ध अर्थों में 'कुल' होता था, इसलिए गुरुकुलों में शिक्षा दान के साथ-साथ भोजन, कपड़ा, रहना—सभी कुछ मुफ्त होता था, किसी बात के लिए किसी प्रकार की फीस नहीं ली जाती थी। धनी मानी सज्जन गुरुकुलों को गाँव या जायदाद लगा देते थे, समय समय पर दान देते थे, राजा-महाराजा राजकोष से सहायता करते थे या विद्यार्थी लोग स्वयं भिक्षा वृत्ति से अपना तथा अपने गुरु का जीवन निर्वाह करते थे। भिक्षा-वृत्ति का अर्थ भीख मांगना नहीं था। 'भिक्षा' देना प्रत्येक व्यक्ति अपना महान् अधिकार समझता था। आज भी बर्मा में इस भिक्षा-वृत्ति की सुन्दरता देखी जा सकती है। विद्यार्थी लोग अपने आश्रम से निकलते हैं। घर की देवियां उन की राह देखती भोजन तय्यार कर अपने दरवाजों पर खड़ी होती हैं। कभी कभी आध आध घंटा विद्यार्थियों की इन्तजार में खड़ी रहती हैं। विद्यार्थी आते हैं और उन के भिक्षा-पात्र में आगे बढ़-बढ़कर देवियां पकाया हुआ अन्न डालती जाती हैं। इस भिक्षा को ले जाकर वे गुरु के सामने रख देते हैं—गुरु भी अन्न ग्रहण करता है, शिष्य भी ग्रहण करते हैं। अपने घर में भिक्षा ले जाने की मनाही थी, न ही कोई गुरु के घर में भिक्षा के लिए जा सकता था। अपने हाथ में भिक्षा लिये जो माता खड़ी होती थी उसे शायद अपना पुत्र स्मरण हो आता होगा जो किसी दूसरे परिवार के दरवाजे पर खड़ा भिक्षा ग्रहण कर रहा होता था। महाराष्ट्र तथा मद्रास प्रान्त में आज भी

विद्यार्थियों की शिक्षा भिक्षा वृत्ति से ही चलती है, इसे 'मधुकरी' कहा जाता है। विद्यार्थी किसी भी परिवार में जाता है, 'भवती भिक्षां देहि'—बोलता है, और घर की देवी उसकी झोली में तय्यार हुआ भोजन लाकर डाल देती है।

सब विद्यार्थियों के मिलकर रहने तथा भिक्षा वृत्ति से जीवन-यापन का परिणाम यह होता था कि अमीर-गरीब का भेद विद्यार्थियों में नहीं रहता था। जैसे गरीब का लड़का भिक्षा मांगता था वैसे अमीर का लड़का भी झोली लेकर भिक्षा के लिए जाता था। गुरुकुल द्वारा समाजवाद की भावना प्रत्येक छात्र के जीवन में क्रियात्मक रूप धारण कर लेती थी। कृष्ण तथा सुदामा का यहीं गठबन्धन होता था और समाज की ऊंच-नीच की भावना को समाप्त कर दिया जाता था।

भिक्षा वृत्ति से जीवन-यापन का यह भी परिणाम था कि शिक्षा सस्ती थी, हरेक को प्राप्त हो सकती थी। आज शिक्षा को सार्वत्रिक तथा सर्व-व्यापी बनाने में सबसे बड़ी बाधा उसका भारी व्यय है। प्राचीन-काल में शिक्षा पर कोई व्यय नहीं होता था इसलिए सब के लिए शिक्षा प्राप्त कर सकना सम्भव था।

शिष्य अथवा ब्रह्मचारी—

'गुरुकुल' में जो विद्यार्थी भर्ती होते थे उन्हें 'ब्रह्मचारी' कहा जाता था। 'ब्रह्मचारी' शब्द का अर्थ है,'ब्रह्मणि चरतीति ब्रह्मचारी'—जो ब्रह्म में विचरे वह 'ब्रह्मचारी' है। 'ब्रह्म' का अर्थ है, 'महान्'। जीवन में छोटे से बड़े होते जाना, संकुचित से विशाल होते जाना, अपने क्षेत्र को बढ़ाते जाना, आगे ही-आगे चलते जाना ही 'ब्रह्मचर्य' है। 'ब्रह्मचर्य' के ये विस्तृत अर्थ हैं। इसके संकुचित अर्थ भी हैं। संकुचित अर्थों में 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ है—वीर्य रक्षा करना। प्राचीन-काल में वीर्य-रक्षा पर बड़ा बल दिया जाता था। आज

कोई शिक्षणालय विद्यार्थियों को वीर्य रक्षा की शिक्षा नहीं देता, परन्तु गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली में वीर्य रक्षा सबसे अधिक महत्त्व की वस्तु समझी जाती थी। २४ वर्ष तक वीर्य रक्षा करनेवाला विद्यार्थी 'वसु', ३६ वर्ष तक वीर्य रक्षा करनेवाला 'रुद्र', तथा ४८ वर्ष तक वीर्य रक्षा करनेवाला 'आदित्य' ब्रह्मचारी कहलाता था।

गुरुकुल में भरती होते समय प्रत्येक ब्रह्मचारी का 'उपनयन' संस्कार होता था। 'उपनयन' का अर्थ है—'गुरु के समीप पहुँचना'। शिक्षा क्या है, गुरु के समीप पहुँचना है, उसके अत्यन्त निकट हो जाना है। 'उपनयन' संस्कार के संबंध में लिखा है, 'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति'—अर्थात् उपनयन संस्कार करते हुए मानो आचार्य ही माता बनकर ब्रह्मचारी को तीन रात तक अपने गर्भ में धारण करता है। क्या गुरु शिष्य के सम्बन्ध का इससे ऊँचा भी कोई चित्र हो सकता है! जिसका उपनयन संस्कार हो जाता है उसे 'द्विज' कहा जाता था। 'द्विज' का अर्थ है, दूसरी बार पैदा हुआ। पहली बार बालक माता-पिता से जन्म लेता है, यह शरीर का जन्म है, दूसरी बार गुरुकुल में आकर गुरु को माता बनाकर उसके गर्भ से जन्म लेता है, यह मानसिक जन्म है, इस जन्म द्वारा वह मनुष्य बनता है। 'उपनयन' संस्कार प्रत्येक बालक के लिए आवश्यक था। जिसका उपनयन नहीं होता था वह जाति च्युत समझा जाता था। इसका यही अभिप्राय हो सकता है कि गुरुकुलों के युग में प्रत्येक बालक के लिए शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक था, जिसका 'उपनयन' संस्कार नहीं होता था, अर्थात् जो शिक्षा प्राप्त नहीं करता था, उसे समाज में कोई ऊँचा स्थान न था।

इस समय का समाज चार भागों में विभक्त था जिसे 'वर्ण-व्यवस्था' कहा जाता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—ये चार

वर्ण थे। पहले तीन वर्णों के बालकों का 'उपनयन' संस्कार होता था। बौद्धायन धर्म-सूत्र में लिखा है कि शूद्र का भी उपनयन किया जाय। मनु तथा याज्ञवल्क्य स्मृति में ब्राह्मण के बालक का ८ वर्ष में, क्षत्रिय के बालक का ११ वर्ष में, और वैश्य के बालक का १२ वर्ष में उपनयन संस्कार करने का विधान है। लोगाक्षि स्मृति में यह आयु क्रमशः ७, ९ और ११ बतलाई गई है। आपस्तम्ब धर्म सूत्र में लिखा है कि कोई भी वर्ण हो, अगर 'ब्रह्मवर्चस' उद्देश्य हो तो ७, 'आयु' उद्देश्य हो तो ८, और अगर 'तेज' अर्थात् शारीरिक-पुष्टि उद्देश्य हो तो ९ वर्ष की आयु में 'उपनयन' होना चाहिए। जिस व्यक्ति ने शारीरिक-वृद्धि को मुख्य रखना हो उसे शिक्षा देर से प्रारम्भ करनी चाहिए—यही भिन्न भिन्न आयु के विधान का अभिप्राय था।

जिनका 'उपनयन' नहीं होता था उन्हें 'सावित्री-पतित' तथा 'व्रात्य' कहा जाता था। ऐसे लोगों के विषय में 'परिहार्याः प्रयत्नतः'—अर्थात् इनसे सदा बचे रहना चाहिए—ऐसा कहा गया है।¹ वसिष्ठ ऋषि का कथन है कि जिनका 'उपनयन' न हुआ हो उनसे कोई व्यवहार न रखे। एक अन्य स्मृतिकार का कथन है कि ऐसों के साथ विवाह-सम्बन्ध भी न करे—'अध्यापनं याजनं च विवाहादि च वर्जयेत्'। इस सारी कड़ाई का यही अभिप्राय है कि भारत की प्राचीन शिक्षा-व्यवस्था में अशिक्षित रहने को कोई स्थान ही न था, जो अशिक्षित होता था उसका समाज से ही बहिष्कार हो जाता था। ठीक भी है, जब समाज सब के लिए शिक्षा की व्यवस्था करता है तब अशिक्षित रहने का कोई कारण ही नहीं रह जाता।

¹ वर्ण को सम्मुख रखकर शिक्षा देने का यही अभिप्राय था कि जो जिस वर्ण के माता पिता की सन्तान है उसे उस प्रकार की

शिक्षा में विशेष रुचि हो सकती है, और वह उस दिशा में प्रवीण हो सकता है। इसका अभिप्राय यह कभी नहीं था कि एक वर्ण का बालक दूसरे वर्ण की शिक्षा नहीं ग्रहण कर सकता था। ऋग्वेद (६,११२) का एक ऋषि कहता है कि मैं कवि हूँ, मेरा पिता भिषुक है, मेरी माता गेहूँ पीसती है, हम नाना धी हैं, भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों के हैं, परन्तु एक ही परिवार के अङ्ग हैं। जो किसी प्रकार की शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता था वही शूद्र कहाता था। शूद्रों के अतिरिक्त उस समय के समाज में दास, दस्यु, असुर और पिशाच भी थे जो अनार्य कहाते थे। इन अनार्यों को भी समाज में पचा लिया गया था और उन्हें भी वेद विद्या के अध्ययन तथा अन्य वैदिक संस्कार करने का पूरा अधिकार था। ऋग्वेद (१०-४८-६) में लिखा है 'जना यदग्निं अजयन्त पञ्च'—अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा पाँचवें अनार्य ने अग्नि की परिचर्या की। वैदिक संस्कृत में इन अनार्यों को समाज का अङ्ग बनाने के लिए 'पञ्च जन'—इस शब्द को रचा गया। ऋग्वेद (६६-६ २०) में अग्नि को 'पञ्च जनों' का ऋषि कहा गया है—'अग्नि ऋषि पवमानः पाञ्चजन्य पुरोहितः'। वाजसनेयी संहिता (२६-२) में लिखा है: 'यथेमां वाचं कल्याणीं आवदानि जनेभ्यः ब्रह्म राजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय'—अर्थात् वेदों के अध्ययन का सब को समान अधिकार है। —

बालकों के समान बालिकाओं को भी शिक्षा का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। यज्ञ में यजमान के साथ यजमान पत्नी पूर्ण अधिकार के साथ भाग लेती थी। ऋग्वेद के मन्त्रों के जैसे 'ऋषि' हैं, वैसे 'ऋषिकाएँ' भी हैं। रोमशा, लोपामुद्रा, अपाला, कद्रू, विश्ववारा, घोषा, जुहू, वागाम्भृणी, पौलोमी, जरिता, श्रद्धा, यमी, उर्वशी, सरमा, यमी, इन्द्राणी, सावित्री, देवजामी, नोधा, आकृष्टभाषा,

सिक्ता, विश्ववरी तथा गोपायना—ये वेदों की ऋषिकाएं हैं। अथर्व (११ ६) में लिखा है: 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवान विन्दते पतिम'—अर्थात् ब्रह्मचर्य धारण करके कन्या युवक पति को प्राप्त करती है। उस समय स्त्रियों 'ब्रह्म वादिनी' होती थीं, उन्हें ब्रह्म का वैसा ही ज्ञान होता था जैसा किसी भी ब्रह्म ज्ञानी को होता है। छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषदों में मैत्रेयी का वर्णन आता है। जिस समय याज्ञवल्क्य घर छोड़कर सन्यास लेने लगे तब उनका तथा मैत्रेयी का ब्रह्म ज्ञान सम्बन्धी वार्तालाप हुआ। जनक की सभा में जब याज्ञवल्क्य ने अपने को सबसे श्रेष्ठ ब्रह्म वेत्ता घोषित किया तब गार्गी ने उनकी परीक्षा ली और याज्ञवल्क्य के विषय में अपना निर्णय दिया कि निःसन्देह यह ब्रह्म वेत्ताओं में सबसे बढ़ा चढ़ा है। मंडन मिश्र की स्त्री ने शंकराचार्य से शास्त्रार्थ किया था और अपने क्षेत्र में शंकर स्वामी को हरा दिया था। इन सब दृष्टान्तों से सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में बालकों तथा बालिकाओं को शिक्षा समान रूप से दी जाती थी—स्त्रियों के लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं था।

गुरु अथवा आचार्य—

शिक्षा देने वाले को 'आचार्य' कहते थे। 'आचार्य' का अर्थ है, 'आचारं ग्राहयतीति आचार्यः'—जो आचार विचार बनावे। आचार्य का काम शिक्षा देने के साथ ब्रह्मचारी के सदाचार को बनाना भी था। विद्यार्थी को 'छात्र' कहा जाता था। पाणिनी ने 'छात्र' का अर्थ किया है, जिसे छाया जाय, आच्छादित किया जाय, सब प्रकार की विघ्न बाधाओं से बचाया जाय। आचार्य का काम बालक को 'छात्र' समझकर, रक्षणीय समझकर, उसे सब प्रकार के पापों से बचाना होता था। विद्यार्थी को 'अन्तेवासी' भी कहा गया है। 'अन्तेवासी' का अर्थ है, जो गुरु के अन्दर बसता हो,

२

उसके हृदय में जा पहुँचे। 'उपनयन' का भी यही अर्थ है— 'उप', अर्थात् 'समीप', और 'नयन', अर्थात् 'ले जाना'। आचार्य बालक को अपने समीप ले आता है। तभी 'उपनयन' करते हुए वेद ने कहा है कि यह ऐसा समय है जब आचार्य मानो माता बनकर बालक को तीन रात तक अपने गर्भ में धारण करता है। इन सब बातों से सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत में गुरु शिष्य का पिता पुत्र का सा सम्बन्ध होता था।

गुरु के महत्त्व का वर्णन करते हुए छान्दोग्य (६, १४, १-२) में कहा है—जैसे किसी की आँखों पर पट्टी बाँध कर उसे जंगल में छोड़ दिया जाय और वह रास्ता ढूँढ़ता फिरे, इसी प्रकार हम इस जन्म में अन्धे की तरह रास्ता टटोलते फिरते हैं। जिस प्रकार रास्ता टटोलने वाले को कोई आकर आँखों से पट्टी उतार दे और उसे ठीक रास्ता बता दे इसी प्रकार गुरु हमारी आँखों से अविद्या की पट्टी उतार कर हमें ठीक मार्ग दिखलाता है।

उच्च कोटि के आचार्य अपने-अपने आश्रमों में रहा करते थे। ये अपने विषय के अगाध विद्वान् होते थे। विद्या की खोज में जिज्ञासु लोग उनके यहाँ पहुँचते थे। गुरु को खोजा जाता था। जो शिष्य गुरु धारण करने आते थे वे हाथ में समिधा लेकर आते थे 'समित्पाणि' होते थे। समिधा लेने का अभिप्राय यह था कि जैसे यह समिधा सिर्फ लकड़ी है, परन्तु आग के स्पर्श से यह प्रदीप्त हो उठती है, वैसे शिष्य भी समिधा के समान है, वह गुरु की विद्या के स्पर्श से अग्नि की भाँति प्रदीप्त होना चाहता है। उपनिषदों में जब-जब भी किसी शिष्य के गुरु के पास अध्ययन के लिए जाने का वर्णन आया है, साथ साथ यह भी लिखा है कि वह हाथ में समिधा लेकर गया। एक ही समय में शिष्य भिन्न-भिन्न विषयों को भिन्न-भिन्न गुरुओं से पढ़ते थे—जो जिस विषय

का ज्ञाता होता था उसी से वह विषय पढ़ते थे, कभी-कभी अगर कोई गुरु दूर-दूर रहते थे तो शिष्य एक विषय का अध्ययन समाप्त कर फिर दूसरे विषय के लिए दूसरे गुरु के पास चले जाते थे।

यह आवश्यक नहीं था कि शिष्य एक ही गुरु के पास विद्याध्ययन करता रहे। गोपथ ब्राह्मण (१-१-३१) में मौद्गल्य तथा मैत्रेय—इन दो गुरुओं का संवाद आता है। मैत्रेय को जब यह अनुभव हो गया कि मौद्गल्य उससे अधिक विद्वान् है तो उसने अपनी पाठशाला बन्द कर दी, और जब तक स्वयं उस विषय में मौद्गल्य के समान पण्डित नहीं हो गया तब तक अपनी पाठशाला चलाने का नाम तक न लिया।

उन दिनों में आजकल की तरह पुस्तकें नहीं थीं, पुस्तकालय नहीं थे, सम्पूर्ण विद्या गुरु के मस्तिष्क में रहती थी। इसका यह लाभ भी था कि कोई पुस्तकालयों को जलाकर सम्पूर्ण विद्या का नाश नहीं कर सकता था। मैक्स मूलर ने लिखा है कि यदि आज भी कोई संस्कृत विद्या के सब ग्रन्थों को नष्ट-भ्रष्ट कर दे तो भारत के श्रोत्रियों के मस्तिष्क में उन सब ग्रन्थों को फिर से रचना की जा सकती है। विद्या को सुरक्षित रखने के लिए 'गुरु-शिष्य-परम्परा' बनी हुई थी। प्राचीन ग्रन्थों में इस परम्परा का उल्लेख है—उनमें लिखा है कि किस गुरु से किस शिष्य ने विद्या को सुरक्षित रखा। प्रत्येक आचार्य अपना कर्तव्य समझता था कि प्राचीन काल से आ रहे विद्या रूपी धन को देश तथा जाति के लिए सुरक्षित रखे। इसीलिए जहाँ शिष्य गुरु की तलाश किया करते थे वहां गुरु भी योग्य शिष्यों की तलाश में रहते थे। तैत्तिरीय उपनिषद् (१-४-३) में लिखा है कि जैसे पानी नीचे को बहता है, जैसे मास संवत्सर के पीछे भागते हैं, वैसे मुझे ब्रह्मचारी प्राप्त हों।

जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—ये चार 'वर्ण' थे, वैसे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास—ये चार 'आश्रम' थे। मुख्य तौर पर ब्राह्मण तथा क्षत्रिय जब वानप्रस्थ आश्रम में जाते थे तब शिक्षक का कार्य करते थे। प्रत्येक शहर के इर्द-गिर्द वानप्रस्थ आश्रम हुआ करते थे। उच्च से उच्च कोटि के विद्वान्, गृहस्थ पूरा कर, वानप्रस्थ ग्रहण करते थे, और ये वानप्रस्थी समाज के निःशुल्क शिक्षक का काम करते थे। क्योंकि गृहस्थ-आश्रम में रहते हुए ये उच्च से-उच्च अनुभव प्राप्त कर चुके होते थे अतः देश के नव-युवकों को ये अपने परिपक्व अनुभव से शिक्षा देते थे। मुख्य तौर पर तो वानप्रस्थियों के हाथ में ही शिक्षा का कार्य था, परन्तु गृहस्थी ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के लिए शिक्षक का काम करना वर्जित न था। ब्राह्मण-गुरुओं का वर्णन तो जहाँ-तहाँ पाया ही जाता है, उपनिषदों में क्षत्रिय-गुरुओं का भी वर्णन मिलता है। यह नहीं कि क्षत्रिय-गुरु शस्त्र विद्या का ही उपदेश देते थे, ऐसे-ऐसे क्षत्रिय गुरु भी विद्यमान थे जो राज काज के साथ साथ ब्रह्म-विद्या का भी उपदेश देते थे। शतपथ ब्राह्मण (११.६.२.१) में विदेह-राज जनक का वर्णन आता है। उसने श्वेतकेतु आरुणेय तथा याज्ञवल्क्य से अग्निहोत्र की विधि के सम्बन्ध में प्रश्न किया जिसका उत्तर केवल याज्ञवल्क्य से देते बना और वह भी अधूरा। इस पर जनक ने उन्हें अग्निहोत्र की यथार्थ विधि का उपदेश दिया। कौशीतकी उपनिषद् (४.१) में गार्ग्य बालाकी ब्राह्मण को काशि-राज अजातशत्रु ने चुप करा दिया और यह ब्राह्मण हाथ में समिधा लेकर अजातशत्रु के पास विद्या ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हो गया। बृहदारण्यक (२.१.१) में भी इसी दृप्त बालाकी की कथा आती है। इसे दृप्त इसलिए कहा गया है क्योंकि इसे अपनी विद्या का बड़ा घमण्ड था। बृहदारण्यक (५.१.१) में पाञ्चाल देश के

राजा प्रवाहण जैवली का वर्णन आता है जिसमें श्वेतकेतु ने आरुणेय तथा उसके पिता को ब्रह्मज्ञान दिया। छान्दोग्य (५-११) में अश्वपति कैकेय के पास पाँच ब्राह्मण 'वैश्वानर' की शिक्षा लेने आये—ऐसा वर्णन पाया जाता है।

अध्यापन के विषय—

ब्रह्मचारी का जब 'उपनयन' संस्कार होता था तब वह अत्यन्त साधारण वेश धारण करता था। शरीर पर चर्म—'अजिन'; नीचे के भाग में सन आदि का 'वास'; हाथ में 'दण्ड'; कमर में 'मेखला'; छाती पर 'यज्ञोपवीत'। सिर के बाल, शिखा को छोड़कर, या तो सब मुंडवाने होते थे, या सब बाल रखने होते थे। बड़े होने पर 'क्षौर कर्म वर्जय'—सिर या दाढ़ी-मूछ के बाल मुंडाने की मनाही थी। आचार्य पूछता था—'कस्य ब्रह्मचारी असि'—'तू किस का ब्रह्मचारी है'? शिष्य कहता था—'तव'—'आपका'। 'उपनयन' हो चुकने के बाद आचार्य उसका 'वेदारम्भ'-संस्कार करता था। आश्वल गृह्य सूत्र (१-२२-२) के अनुसार शिष्य को सम्बोधन करके कहा जाता था, 'हे बालक! तू आज से ब्रह्मचारी है, जल को प्रभूत मात्रा पिया कर, काम में लगा रह, निठल्ला कभी मत फिर, दिन का कभी मत सोना, आचार्य के आधीन रहकर विद्याध्ययन करना, बारह वर्ष पर्यन्त एक-एक वेद का अध्ययन करना और ब्रह्मचर्य धारण करना, आचार्य की धर्म-युक्त आज्ञा का पालन करना, अधर्म युक्त आज्ञा का पालन मत करना, क्रोध और गृढ छोड़ देना, मैथुन से दूर रहना, पलंग पर मत सोना, गाना-बजाना नाचना गन्ध माला सुरमा लगाना आदि ठीक नहीं; अति स्नान, अति भोजन, अति निद्रा, अति जागरण—निन्दा-लोभ मोह भय शोक छोड़ देना, रात्रि के पिछले पहर न उठ जाना और आवश्यक शौच, दन्त धावन, स्नान, सन्ध्या

पासन, ईश्वर स्तुति, प्रार्थना, उपासना और योगाभ्यास किया करना, उस्तरा मत लगवाना, मांस, रूखा सूखा अन्न तथा मद्यादि का सेवन न करना; बैल, घोड़ा, ऊँट आदि की सवारी न करना; ग्राम के भीतर मत रहना, जूता-छाता न रखना, लघुशङ्का के बिना इन्द्रिय का स्पर्श न करना; वीर्य रक्षा करके ऊर्ध्व-रेता बनना और वीर्य को शरीर में रखाना, अङ्गों में तेल मलना आदि छोड़ देना, अति-अम्ल, अति तिक्त, अति-कषाय, क्षार तथा रेचन द्रव्यों का सेवन न करना, युक्त आहार विहार में रहना, विद्या के ग्रहण में लगे रहना, सुशील बनना, थोड़ा बोलना, सभ्य बनने का प्रयत्न करना, मेखला और दण्ड का धारण करना, भिक्षा में निर्वाह करना, अग्निहोत्र, स्नान, सन्ध्या, आचार्य का आज्ञाकारी, प्रात साय आचार्य को नमस्कार करने वाला बनना—ये तेरे नित्य के धर्म हैं।

इस उपदेश में स्पष्ट हो जाता है कि चरित्र का निर्माण अध्यापन का आवश्यक विषय था। ब्रह्मचारी की सम्पूर्ण दिन-चर्या ऐसी बनाई गई थी जिसमें क्षण क्षण में उसके आचार का निर्माण होता था। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि पुस्तक पाठ की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। मुण्डक उपनिषद् में शौनक का वर्णन मिलता है जिसके अनुसार वह आङ्गरस आचार्य के पास गया और कहा कि मैं चारों वेद, छन्द, कल्प, निरुक्त, शिक्षा को पढ़ चुका हूँ—मुझे 'अपरा'-विद्या का ज्ञान है, 'परा' विद्या का नहीं। सब भौतिक विद्याओं को 'अपरा' विद्या कहा जाता था, आत्म विद्या को 'परा' विद्या कहा जाता था। छान्दोग्य उपनिषद् (७-१) में लिखा है कि नारद आचार्य सनत्कुमार के पास गये, और उनसे कहा कि मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, पाँचवें वेद इतिहास पुराण

वेदों के वेद (जिससे वेद स्पष्ट हो जाते हैं), पित्र्य (शुध्रूषा-विज्ञान), राशि (गणित), दैव-विद्या (उत्पत्ति-विज्ञान), निधि-शास्त्र (अर्थ-शास्त्र), वाकोवाक्य (तर्क-शास्त्र), एकायन (नीति शास्त्र), देव-विद्या (निरुक्त), ब्रह्म-विद्या, भूत विद्या (भौतिकी, रसायन, प्राणी-शास्त्र), क्षत्र विद्या (धनुर्विद्या), नक्षत्र विद्या (ज्योतिष), सर्प-विद्या (विष ज्ञान), देव-जन विद्या (ललित-कला) को पढ़ चुका हूँ। मैं 'मन्त्र वित्' हूँ, 'आत्म वित्' नहीं हूँ! 'अपरा विद्या' तथा 'मन्त्र विद्या' का एक ही अर्थ है; 'परा-विद्या' तथा 'आत्म-विद्या' का एक ही अर्थ है। प्राचीन भारत में सभी विद्याएँ पढ़ायी जाती थीं, परन्तु क्योंकि शिक्षा का उद्देश्य 'मुक्ति' समझा जाता था, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा 'अपरा' अथवा 'मन्त्र'-विद्या पढ़ने के बाद 'परा' अथवा 'आत्म' विद्या पढ़ने की होती थी, और सच्चा गुरु वही समझा जाता था जो 'अपरा' तथा 'परा', 'मन्त्र-विद्या' तथा 'आत्म-विद्या', भौतिक विज्ञान तथा आत्म-ज्ञान दोनों का ज्ञान दे सकता था।

यद्यपि उस समय अपने-अपने विषयों के विशेष-विशेष ज्ञाता होते थे तो भी सम्पूर्ण ज्ञान को एक अखंड ज्ञान समझा जाता था। व्याकरण के ज्ञाता को ज्योतिष तथा वैद्यक का ज्ञान भी होता था, ज्योतिषी को व्याकरण, न्याय, सांख्य, वैद्यक आदि का ज्ञान होता था। यही कारण है कि प्राचीन प्रणाली के पंडित प्रायः सभी कुछ जानते थे। वे व्याकरण पढ़ा सकते थे, परन्तु साथ-ही साथ ज्योतिष तथा आयुर्वेद भी पढ़ा सकते थे। सब विषय पढ़ा सकने के साथ-साथ वे किसी एक विषय के विशेष ज्ञाता भी होते थे। तक्षशिला विश्व-विद्यालय में पाणिनी, चाणक्य तथा जीवक ने शिक्षा प्राप्त की थी। पाणिनी व्याकरण के, चाणक्य राजनीति के, और जीवक वैद्यक के विश्व-विख्यात विद्वान हुए, परन्तु इन

मत में विशेषता यह थी कि पाणिनी व्याकरण के साथ साथ राजनीति भी जानते थे, चाणक्य राजनीति के साथ-साथ व्याकरण भी जानते थे, और जीवक आयुर्वेद के साथ साथ अन्य शास्त्रों के भी ज्ञाता थे।

शिक्षा समाप्त कर चुकने पर आचार्य का दीक्षान्त भाषण (Convocation address) होता था जिसमें ज्ञात होता है कि आचार्य किन बातों को शिक्षा के लिए आवश्यक समझते थे। एक दीक्षान्त-भाषण का नमूना तैत्तिरीयोपनिषद् (११, १-४) में पाया जाता है। गुरुकुल छोड़ते हुए शिष्य को सम्बोधन कर आचार्य कहता है—सत्य बोलना। धर्म आचरण करना। स्वाध्याय में प्रमाद मत करना। आचार्य को जो प्रिय हो वह दक्षिणा रूप में उसे देकर ब्रह्मचर्याश्रम के अनन्तर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना और प्रजा के सूत्र को मत तोड़ना। सत्य बोलने में प्रमाद मत करना, धर्माचरण में प्रमाद मत करना, जिस बात में तुम्हारा भला हो उसमें प्रमाद मत करना, अपनी विभूति बढ़ाने में प्रमाद मत करना, स्वाध्याय और प्रवचन में प्रमाद मत करना। संसार में जो 'देव' हैं, तुम से गुणों में बड़े चढ़े हैं, और जो 'पितर' हैं, तुम से आयु में बड़े हैं, उनके प्रति अपने कर्तव्य के पालन में प्रमाद मत करना। माता को देवी समझना, पिता, आचार्य, अतिथि—इन्हें देव मानना। हमारे जो अनिन्दित कर्म हैं उन्हीं का सेवन करना, दूसरों का नहीं; जो हमारे सुचरित हैं, उन्हीं को उपास्य समझना, दूसरों को नहीं। हमसे श्रेष्ठ विद्वान् जहाँ बैठे हों वहां उनके उपदेश को ध्यान से सुनना, वाद विवाद में मत पड़ना। श्रद्धा से देना, अश्रद्धा से भी देना, अपनी बढ़ती में सम्पत्ति में से देना, श्री न बढ़ रही हो तो भी लोकलाज से देना, भय से देना, प्रेम से भी देना। ऐसा करते हुए भी अगर किसी बात में सन्देह उत्पन्न हो

जाय, यह समझ न पड़े कि 'धर्माचार' क्या है, अथवा किस स्थिति में कैसे वर्तना है, 'लोकाचार' क्या है, यह सन्देह खड़ा हो जाय, तो तुम्हारे आस-पास के धर्म-कार्य में स्वतः प्रवृत्त, प्रेरणावश प्रवृत्त, बिना रूखे स्वभाव के, सब पहलुओं पर विचार करने वाले ब्राह्मण जैसे वर्तें वैसे वरतना। 'विवाद-ग्रस्त' विषयों में भी युक्त, आयुक्त, अरूक्ष, धर्म-काम, मंत्री ब्राह्मणों के पीछे ही चलना। यही आदेश है, यही उपदेश है, यही वेद और उपनिषद् का सार है, यही हमारा अनुशासन है, ऐसा ही आचरण करना, ऐसा ही अनुष्ठान करना।

'वेदारम्भ' तथा 'वेदान्त संस्कार' के समय आचार्य के जिन दो भाषणों का हमने उल्लेख किया उनसे उस समय के अध्यापन के विषयों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है।

अध्यापन की विधि—

तैत्तिरीय उपनिषद् (१ १, २) का प्रारम्भ 'शिक्षा' अध्याय से होता है। उसमें लिखा है कि शिक्षा 'शब्दों' द्वारा दी जाती है, शब्दों का निर्माण 'वर्णों' से होता है। अ आ-इ ई तथा क-ख ग घ आदि 'वर्ण' हैं। वर्णों के ज्ञान के बाद स्वर' अर्थात् उच्चारण का ज्ञान आवश्यक है। कौन सा वर्ण कैसे बोला जाता है—इसका ज्ञान स्वर ज्ञान है। कई बालक 'स' को 'ह' और 'त' को 'ट' बोलने लगते हैं। उनका 'स्वर' ठीक नहीं होता। जैसे 'वर्ण' का ज्ञान कराना आवश्यक है, वैसे 'स्वर' का ज्ञान कराना भी उतना ही आवश्यक है। 'वर्ण' तथा 'स्वर' के ज्ञान के बाद 'मात्रा' का ज्ञान कराया जाता है। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत—इन मात्राओं का ज्ञान शब्दोच्चारण में सहायक है। कई बालक ह्रस्व की जगह दीर्घ और दीर्घ की जगह ह्रस्व मात्रा का प्रयोग कर देते हैं। वर्ण, स्वर, मात्रा के बाद मात्राओं का 'बल' जानना आवश्यक है।

संस्कृत के ज्ञान में मात्राओं का अपना-अपना बल है। 'आ' की मात्रा का बल शब्द को स्त्री लिंगी बना देता है, 'औ' का बल एक वस्तु को दो बना देता है, 'आः' का बल एक को अनेक बना देता है। इसके बाद शब्द ज्ञान में 'साम'—अर्थात्, समता से उच्चारण करना आना चाहिए, बोलने का ढंग आना चाहिये। वर्ण, स्वर, मात्रा, बल और साम के ज्ञान के अनन्तर शब्दों का 'सन्तान' प्रारंभ हो जाता है, शब्दों से वाक्य, वाक्यों से ग्रंथ बन जाते हैं, यही शब्दों का 'संतान' - फैलाव— है। इस प्रकार वर्णों से प्रारंभ करके वर्णों की सतान तक पहुँचने में ही सब 'शिक्षा' समझी जाती है। यह तैत्तिरीय उपनिषद् का शिक्षा अध्याय है।

'शब्द' और 'अर्थ' का आपस का सम्बन्ध कैसा है? कई लोग कहते थे कि 'शब्द' और 'अर्थ' का नित्य-सम्बन्ध है, कई कहते थे कि इन दोनों का कल्पित सम्बन्ध है, माना हुआ सम्बन्ध है। नित्य सम्बन्ध मानने वाले कहते थे कि 'घट' का अर्थ घड़ा ही हो सकता है, दूसरा कोई अर्थ नहीं; अनित्य सम्बन्ध मानने वालों का कहना था कि 'घट' का हमने घड़े से सम्बन्ध जोड़ रखा है इसलिए 'घट' कहने से घड़ा अर्थ लिया जाता है, अगर कोई दूसरा अर्थ जोड़ लिया जाय तो वह अर्थ लिया जाय। वैय्याकरणी 'शब्द' और 'अर्थ' का नित्य सम्बन्ध मानते थे; नैय्यायिक इन दोनों का अनित्य, अर्थात्, कल्पित सम्बन्ध मानते थे। आजकल जो 'प्रत्यय सम्बन्ध-वादी' (Associationists) कहे जाते हैं वे प्राचीन भारत के नैय्यायिकों की तरह 'शब्द' और 'अर्थ' के कल्पित सम्बन्ध को मानने वाले ही समझने चाहिएं।

तो फिर 'ज्ञान' क्या है? जैसा हमने देखा, ज्ञान तो 'शब्द' और 'अर्थ' का कल्पित सम्बन्ध है। 'ज्ञान' तक पहुँचने का तरीका क्या है?

प्राचीन शिक्षा शास्त्री 'ज्ञान' तक पहुँचने के पाँच क्रम बतलाते थे—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन—इन्हें ज्ञान के 'पंचावयव' कहा जाता था। इन पाँचों का क्या अर्थ है?

हमने पहाड़ पर धुआँ देखा और उसे देखते ही कह दिया—'पहाड़ पर आग लगी है'। इस प्रकार पहाड़ पर धुआँ देखकर झट-से कह देना कि वहाँ आग लगी है, 'प्रतिज्ञा' कहाता है।

परन्तु प्रश्न होता है कि हम क्यों मानें कि पहाड़ पर आग है, इस में 'हेतु' क्या है? पहाड़ पर धूआँ देख कर यह कह देना कि वहाँ आग लगी है, पर्याप्त नहीं है। हमें अपने कथन की पुष्टि में कहना होगा कि वहां आग है 'क्योंकि वहां धुआँ दीख रहा है'! यही 'हेतु' है।

परन्तु धूआँ दीख रहा है तो क्या हुआ? इस 'हेतु' की पुष्टि में हमें कोई दृष्टान्त भी देना होगा। इसलिए हम कहते हैं, 'जैसे रसोई में धुआँ होता है और धुएं के साथ आग होती है, इसी प्रकार क्योंकि पहाड़ पर धुआँ दिखाई दे रहा है, अतः वहाँ पर भी आग अवश्य है।' इसी को 'उदाहरण' कहते हैं।

उदाहरण देकर सिद्धान्त निकाल लेने के बाद यह सिद्धान्त सब जगह लागू हो सकता है—यह सिद्ध करना आवश्यक है। जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ आग होती है—इस प्रकार अपने कथन की सत्यता सिद्ध करने को 'उपनय' कहते हैं।

'उपनय' के बाद, अर्थात् एक 'सिद्धान्त' निकाल लेने के बाद सामने की घटना पर उसे लागू करके दिखाने को 'निगमन' कहते हैं। जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ आग होती है, सामने पहाड़ पर धुआँ है अतः वहाँ भी आग अवश्य है—इस प्रकार अपने कथन को घटा कर दिखा देना 'निगमन' है।

प्राचीन भारतीय शिक्षा शास्त्रियों की सिखाने की यही पद्धति थी। इस पद्धति के दो भाग किये जा सकते हैं। पहले को 'व्याप्ति पूर्वक अनुमान' (Deductive Method) कहा जा सकता है, दूसरे को 'दृष्टान्त पूर्वक अनुमान' (Inductive Method) कहा जा सकता है। 'व्याप्ति पूर्वक अनुमान' (Deductive Method) में हम पहले एक सत्य का प्रतिपादन कर देते हैं, एक व्याप्ति को, एक नियम को, एक सिद्धान्त को कह देते हैं, और दृष्टान्त देकर उसकी पुष्टि करते हैं। 'दृष्टान्त पूर्वक अनुमान' में हम पहले अनेक दृष्टान्तों का संग्रह कर देते हैं, और उसके बाद व्याप्ति को, नियम को, सिद्धान्त को निकालते हैं। प्राचीन 'शिक्षा-पद्धति में 'व्याप्ति पूर्वक अनुमान' अथवा 'निगमन' (Deductive Method) और 'दृष्टान्त पूर्वक अनुमान' अथवा 'आगमन' (Inductive Method) दोनों का प्रयोग होता था। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण में 'व्याप्ति पूर्वक अनुमान' (*Deduction*) है, और उदाहरण, उपनय, निगमन में 'दृष्टान्त पूर्वक अनुमान' (Induction) है। 'पंचावयव' की इसी पद्धति को आजकल हर्बर्ट के 'पंच सोपान' (*Five Steps of Herbart*) कहा जाता है।

शिक्षा में 'ध्यान' की कितनी आवश्यकता है, इसे पूरी तरह समझा जाता था। शिक्षा के तीन आवश्यक अंग थे—'श्रवण', 'मनन' तथा 'निदिध्यासन'। 'श्रवण' गुरु से सुनने का नाम था, परन्तु सुनना पर्याप्त न था। सुनने के बाद 'स्वाध्याय' की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती थी। 'स्वाध्याय' का अर्थ है, स्वयं अभ्यास करना। गुरु का काम तो शिष्य में जिज्ञासा उत्पन्न कर देना है। उस के बाद शिक्षा की सम्पूर्ण प्रक्रिया शिष्य को स्वयं करनी होती थी। यही 'स्वाध्याय' की प्रक्रिया 'मनन' तथा 'निदिध्यासन' के रूप में होती थी। शिष्य पढ़े हुए पर 'मनन' करता था, पढ़ने के बाद

गुढ़ता था, और गुढ़ने के बाद पढ़े हुए में एक रूप हो जाता था, इसी को 'निदिध्यासन' कहते थे।

पढ़ाते हुए गुरु कथा कथानकों का भरपूर प्रयोग करता था। अगर कहा जाय कि कथानकों द्वारा शिक्षा देना भारतीय प्रणाली थी तो भी कोई अत्युक्ति न होगी। कथानकों के साथ अलंकारों का प्रयोग भी प्रचुरता से होता था। कठोपनिषद् में नचिकेता के कथानक द्वारा ब्रह्म-विद्या का अत्यन्त मनोहर उपदेश दिया गया है।

प्रायः प्रश्नोत्तर द्वारा गुरु शिष्य को पढ़ाता था। शिष्य प्रश्न करता था, गुरु उत्तर देता था। गीता तो सम्पूर्ण ही अर्जुन के प्रश्नों के उत्तर में कही गई है। प्रश्नोपनिषत् में भी प्रश्न हैं, और उत्तर हैं। तैत्तिरीय-ब्राह्मण में प्रश्न-कर्ता को 'प्रश्निन्' कहा गया है, बीच में ही प्रश्न करने वाले को 'अभि-प्रश्निन्' कहा गया है, उत्तर देने वाले को 'प्रश्न विवाक्' कहा गया है। प्रश्नोत्तरी द्वारा किसी मत को समझने के तरीके को 'वाकोवाक्य' कहा जाता था। प्रश्नोत्तर द्वारा ज्ञान प्राप्त करने की सुरुआत के नाम से जो पद्धति प्रसिद्ध है वही प्राचीन भारतीय शिक्षा शास्त्रियों की पद्धति थी। कभी-कभी गुरु इशारा मात्र कर देते थे, और शिष्य से आशा रखते थे कि वह अपनी बुद्धि से तत्व तक पहुँच जाय। तैत्तिरीय उपनिषत् की भृगु-वल्ली में वरुण अपने पुत्र भृगु को ब्रह्म का उपदेश देते हुए कहता है, अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, वाणी—जिससे ये उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने के बाद जिससे ये जीवित रहते हैं, जिसमें विलीन हो जाते हैं, वही 'ब्रह्म' है। फिर धीरे-धीरे अपने प्रयत्न से वह जानता गया कि अन्न ब्रह्म नहीं है, प्राण, चक्षु, श्रोत्र आदि भी ब्रह्म नहीं हैं। ज्यों ज्यों भृगु तप करता गया,

भिन्न-भिन्न बातों पर विचार करता गया, त्यों त्यों उसकी अपनी आँखें खुलती गईं।

शिक्षा में परीक्षणात्मक पद्धति को विशेष स्थान था। छान्दोग्य में आचार्य अपने शिष्य श्वेतकेतु को कहते हैं कि वट वृक्ष का एक फल लाओ। इसे काट डालो, देखो, क्या देखते हो? बीज! बीजों को फोड़ डालो, फिर क्या देखते हो? कुछ नहीं! आचार्य ने कहा, इसी 'कुछ नहीं' में इतना विशाल वट का वृक्ष छिपा हुआ है। तीन बार इसी प्रकार परीक्षण को दोहरा कर आचार्य ने शिष्य को ब्रह्म की महान् सत्ता की शिक्षा दी है।

छान्दोग्य (६) में श्वेतकेतु को उसके पिता ने यह बतलाना चाहा कि अन्न पर ही प्राण निर्भर है। श्वेतकेतु को १५ दिन तक निराहार रहने को कहा गया, सिर्फ पानी पीने की आज्ञा थी। १५ दिन के बाद उसे वेद-मन्त्र दोहराने को कहा गया। श्वेतकेतु ने कहा कि मुझे कुछ स्मरण नहीं आता। फिर आचार्य ने उसे कुछ खा लेने को कहा। कुछ देर के बाद उसे सब स्मरण होने लगा। इस प्रकार परीक्षण करके किसी तत्व तक पहुँचना उन आचार्यों की पद्धति थी।

सबसे अधिक महत्व की बात यह है कि शिक्षा को एक उपयोगी कौशल (Craft) के साथ जोड़ दिया गया था। उस समय की परिस्थिति में गौ को जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी माना गया था। शिष्य का विद्याभ्यास करते हुए गौ की सेवा करना मुख्य कार्य था। आजकल के निकम्मे खेलों से विद्यार्थी को यह लाभ नहीं हो सकता जो उस समय के विद्यार्थी को गो सेवा से होता था। छान्दोग्य में सत्यकाम जाबाल की कहानी आती है। उसमें लिखा है कि गुरु ने उसे ४०० गौएँ दीं, और जंगल में भेज दिया।

जब वे १००० हो गईं तब वह लौटकर आया, और तब तक वह संपूर्ण ज्ञान प्राप्त कर चुका था। बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य के विषय में लिखा है कि जनक की सभा से वह १००० गौओं को अपने शिष्य द्वारा हँकवा कर ले गया। इस प्रकार भारत के प्राचीन शिक्षा विज्ञ वर्तमान शिक्षा शास्त्रियों की तरह किसी कौशल (Craft) को शिक्षा के साथ जोड़ना आवश्यक समझते थे। गो-सेवा का तो इतना महत्त्व है कि यदि आज भी इसे शिक्षा के साथ जोड़ दिया जाय तो विद्यार्थियों को हानि के स्थान में लाभ होने की ही संभावना है।

२७

बौद्ध-काल में शिक्षा

(EDUCATION IN BUDHIST PERIOD)

बुद्ध श्रमणों में से एक था—

ब्राह्मण-काल के बाद भारतीय शिक्षा के इतिहास में बौद्ध-काल आता है। उपनिषदों में जगह जगह संसार की नश्वरता का वर्णन मिलता है। जगत् मिथ्या है, आत्मा ही सत्य है। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में स्थान स्थान पर संसार को मिथ्या घोषित करने वाली टोलियां फिरने लगीं। बुद्ध से पहले के भारत-समाज में संसार को मिथ्या घोषित करने वाले धर्मप्रचारकों के मुख्य तौर पर दो भाग थे— 'ब्राह्मण' तथा 'श्रमण'। 'ब्राह्मण' गृहस्थी होते थे, 'श्रमण' वानप्रस्थी अथवा सन्यासी होते थे।

'श्रमणों' में बुद्ध के समय ६ श्रमण सबसे प्रसिद्ध थे—पूरण कस्सप, मक्खली गोशाल, अजित केशकम्बाली, पकुद्ध कच्चायन, संजय बेलट्ठिपुत्त और निगंठ नातपुत्त। इनमें से प्रत्येक अपने दार्शनिक विचारों के लिए प्रसिद्ध था। इनके सैकड़ों शिष्य थे। ये आचार्य अपनी शिष्य-मण्डली के साथ भारतीय सभ्यता के बड़े-बड़े केन्द्रों के भ्रमण करते फिरते थे, और अपने विचार को जगह-जगह फैलाते फिरते थे। सिर पर जटा-जूट, शरीर पर चर्म धारण किये ये तथा इन के शिष्य भारत के कोने कोने में संसार के मिथ्या होने का संदेश बांटते जगह-जगह भ्रमण करते थे।

ब्राह्मणों के अतिरिक्त 'श्रमणों' के चार भेद थे—मग्गजिन (सत्य मार्ग को जीतने वाले), मग्गदेशी (सत्य-मार्ग का उपदेश देने वाले), मग्गजीवी (सत्य मार्ग के उपदेश से जीविका उपार्जन करने वाले) तथा मग्ग दूषी (सत्य मार्ग को दूषित करने वाले)। इन श्रमणों का आपस में वाद विवाद होता था, उनके कई अवान्तर भेद बन गये थे, और बुद्ध के समय श्रमणों के ६३ भेद थे जिन्हें 'दृष्टि' (Point of view) का नाम दिया जाता था।

प्रतीत्य-समुत्पाद तथा अविद्या का नाश—

'ब्राह्मणों' तथा 'श्रमणों' एवं इनके अवान्तर सम्प्रदायों में समय समय पर वाद विवाद होता था। मल्लिका नाम की रानी ने इनके विवाद के लिये अपने यहां एक विशाल भवन बनवाया था जिसमें घूमते फिरते 'ब्राह्मण' तथा 'श्रमण' आकर परस्पर शास्त्रार्थ करते थे। बुद्ध इन्हीं श्रमणों में से एक श्रमण था। उसने भी अन्य ब्राह्मणों तथा श्रमणों के समान शास्त्रार्थ किये थे और अन्त में जिस सिद्धान्त को स्थिर किया, उसका नाम 'प्रतीत्य-समुत्पाद' रखा। 'प्रतीत्य समुत्पाद' का अर्थ है संसार में किस 'कारण' से कौन 'कार्य' उत्पन्न होता है, इसे पता लगाते लगाते अन्त में 'कार्य कारण' के पूरे चक्र का पता लगा लेना, और उसमें से निकलकर मुक्त हो जाना। बुद्ध का कथन था कि संसार का प्रारम्भ 'अविद्या' से होता है। 'अविद्या' से 'कर्म', 'संस्कार', 'विज्ञान', 'नाम रूप', 'षडायतन' (छः इन्द्रियां), 'स्पर्श', 'वेदना', 'तृष्णा', 'उपादान', 'भव', 'जाति', 'जरा', 'मरण', 'शोक', 'परिदेवना', 'दुःख' तथा 'दुर्मनस्कता'—ये क्रमशः उत्पन्न होते हैं। दुःख का नाश करना हो तो पहले अविद्या का नाश करना आवश्यक है, अविद्या के नाश में क्रमशः दूसरी चीजों का नाश उत्तरोत्तर होता चला जायगा।

अगर अविद्या में ही मूल, दुःख है, तो अविद्या का नाश

करना आवश्यक है। इसी उद्देश्य से बुद्ध ने 'संघ' की स्थापना की। संघ का उद्देश्य ही अविद्या का नाश कर व्यक्ति को 'निर्वाण' दिलाना था, इसलिए बौद्ध-काल का संघ का इतिहास ही उस समय की 'शिक्षा' का इतिहास है।

प्रव्रज्या—

जैसे ब्राह्मण काल में 'उपनयन'-संस्कार होता था वैसे बौद्ध काल में 'उपनयन' के स्थान में 'प्रव्रज्या' संस्कार होता था। जो भी संघ में प्रविष्ट होना चाहे उसको 'प्रव्रज्या' आवश्यक थी। प्रव्रज्या के द्वारा किसी भी दूसरे संघ का 'ब्राह्मण' अथवा 'श्रमण' संघ में प्रविष्ट हो सकता था। प्रवेश के समय कम से कम आयु ८ वर्ष की थी, अधिक कितनी भी हो सकती थी। बड़ी आयु के लोग भी संघ में प्रविष्ट हो सकते थे, छोटी आयु के ब्रह्मचारी के तौर प्रविष्ट होते थे। आधार भूत विचार यह था कि जो 'प्रव्रज्या' ले रहा है वह घर को सदा के लिए छोड़ रहा है। ब्राह्मण काल में जो ब्रह्मचारी बनता था वह घर को तो छोड़ता था परन्तु विद्या ग्रहण करने के बाद घर में लौट आता था, सिर्फ जो व्यक्ति 'नैष्ठिक ब्रह्मचारी' होना चाहता था वही घर को सदा के लिए छोड़ता था। बौद्ध-काल में 'प्रव्रज्या' ग्रहण करना ही घर को सदा के लिए छोड़ देना था।

'प्रव्रज्या' का अधिकार सब को था। बुद्ध ने कहा है कि जैसे भिन्न भिन्न नदियां भिन्न भिन्न नामों से बहती हैं, परन्तु समुद्र में आकर सभी एक हो जाती हैं, वैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र जब शाक्य बुद्ध के सङ्घ में प्रविष्ट होते हैं, तो सब एक हो जाते हैं। बौद्ध सङ्घ में जाति-पाति का कोई भेद भाव न था। उपाली नाई भी सङ्घ में बिना भेद-भाव के प्रविष्ट किया गया था।

प्रव्रज्या लेने के लिए जब कोई आता था तब उसे किसी भिक्षु से प्रव्रज्या लेनी होती थी। वह उसे पीले कपड़े पहना कर उससे

'बुद्ध शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि'—यह बुलवाता था। तीन शरणों में आने का अभिप्राय यह था कि 'बुद्ध'-'धर्म' तथा 'सङ्घ' की शरण में आता हूँ। इस प्रकार शरण में आने के बाद उसे 'दश शिक्षा-पदानि'—दश शिक्षाएँ दी जाती थीं। यह प्रतिज्ञा करता था कि मैं किसी जीवधारी को नहीं मारूंगा, जो नहीं दिया जायगा उसे नहीं लूंगा, दुराचार नहीं करूंगा, असत्य नहीं बोलूंगा, मादक द्रव्यों का सेवन नहीं करूंगा, असमय भोजन नहीं करूंगा, नाचना गाना आदि नहीं करूंगा, गन्ध-माला आदि का सेवन नहीं करूंगा, ऊंची शय्या का सेवन नहीं करूंगा, सोना-चांदी आदि नहीं लूंगा। ब्राह्मण काल में वेदारम्भ संस्कार के समय शिष्य को आचार्य जो उपदेश देता था यह उपदेश लगभग उससे मिलता-जुलता है।

यद्यपि सङ्घ में प्रवेश की सबको खुली छुट्टी थी तो भी कुछ नियन्त्रण भी था। माता-पिता की आज्ञा के बिना सङ्घ में किसी को प्रविष्ट नहीं किया जाता था। बुद्ध ने इस नियम को रखकर बड़ी बुद्धिमत्ता का परिचय दिया, नहीं तो सङ्घ तथा भारतीय समाज के परिवारों में सदा संघर्ष बना रहता। तपेदिक, दमा, कुष्ठ, खुजली वालों को भी संघ में नहीं लिया जाता था, नहीं तो सभी में ये बीमारियां फैल जातीं। समाज द्वारा अपराधी ठहराये गये व्यक्तियों के लिए भी संघ का द्वार बन्द था, नहीं तो संघ तथा राज्य में संघर्ष उठ खड़ा होता। सेना में काम करने वालों के लिए आवश्यक था कि राज्य की आज्ञा लेकर ही संघ में प्रवेश पा सकें। ऋण से बचने वालों को संघ में नहीं लिया जाता था। इस बात का हर तरह से निश्चय कर लिया जाता था कि संघ द्वारा 'परिवार', 'समाज' तथा 'राज्य' की किसी व्यवस्था में खलबली न मच जाय।

उप-सम्पदा—

'प्रव्रज्या' के बाद 'उपसम्पदा' की बारी थी। 'उपसम्पदा' ग्रहण करने पर व्यक्ति पूरा 'भिक्षु' बन जाता था। 'प्रव्रज्या' तथा 'उपसम्पदा' में १२ वर्ष का अन्तर होता था। जैसे ब्राह्मण काल में १२ वर्ष तक गुरुकुल वास आवश्यक था वैसे बौद्ध-काल में १२ वर्ष तक 'प्रव्रज्या' में रहना आवश्यक था। हाँ, यह समय न्यून भी किया जा सकता था। जो व्यक्ति किसी अन्य संघ के सदस्य होते थे उन्हें ४ मास में ही 'प्रव्रज्या' से 'उपसम्पदा' में ले लिया जाता था। ब्राह्मणों में से जटिल नाम के वानप्रस्थी एकदम 'प्रव्रज्या' से 'उपसम्पदा' में ले लिए जाते थे।

'प्रव्रज्या' तो किसी भी 'भिक्षु' से ली जा सकती थी, परन्तु 'उपसम्पदा' के लिए 'संघ' के सम्मुख उपस्थित होना आवश्यक था। 'उपसम्पदा' के लिए 'संघ' की एक विशेष बैठक बुलाई जाती थी जिसमें कम से-कम १० भिक्षुओं का होना आवश्यक था। इस बैठक में संघ का वोट लिया जाता था कि अमुक व्यक्ति को 'उपसम्पदा' दी जाय, या नहीं। जब यह निश्चय हो जाता था कि उसे 'उपसम्पदा' दी जाय तब एक भिक्षु उसे अलग ले जाकर उससे भिन्न-भिन्न प्रश्न करता था। उसका नाम क्या है, उसका 'उपाध्याय' अर्थात् गुरु कौन है, कोई बीमारी तो नहीं, ऋण तो नहीं, सरकारी नौकरी छोड़ कर तो नहीं आया, माता-पिता की आज्ञा ली है या नहीं? ये सब निश्चय कर चुकने के बाद वह भिक्षु उसे 'संघ' के सम्मुख उपस्थित करता था। इसके बाद कोई दूसरा भिक्षु 'संघ' के सम्मुख प्रस्ताव करता था कि उसे 'संघ' में ले लिया जाय। तीन बार प्रस्ताव दोहराया जाता था, और मौन द्वारा सब सम्मति प्रकट करते थे। फिर प्रवेशार्थी को चार 'निश्रय' तथा

चार 'अकरणीय' बातों का उपदेश दिया जाता था। चार 'निश्चय' ये थे—भिक्षा पात्र में एकत्रित करके भोजन करना; फटे पुराने माँगे हुए कपड़ों से वदन ढकना; वृक्ष के नीचे वास करना; गो मूत्र का औषध के रूप में प्रयोग करना। चार 'अकरणीय' ये थे—मैथुन; चोरी; प्राणि-वध; चमत्कार करने की शक्ति दिखाना। इन चारों बुरी वस्तुओं का त्याग चार 'अकरणीय' कहाते थे।

यद्यपि 'प्रव्रज्या' तथा 'उपसम्पदा' ग्रहण करने के बाद यही समझा जाता था कि अब गृहस्थाश्रम में लौटकर नहीं जाना, तो भी, अगर कोई इन संस्कारों में से गुजरने के बाद भी घर-गृहस्थी में लौट जाना चाहता था, तो उसे जबर्दस्ती रोका नहीं जाता था। किसी व्यक्ति के सम्मुख उसका इतना कह देना भर काफी था कि वह अपने भीतर 'बुद्ध'-'धर्म' तथा 'संघ' के पीछे चलने की शक्ति नहीं देख रहा।

'उपसम्पदा' ग्रहण करने के बाद विद्यार्थी को 'उपसम्पन्न' कहते थे। 'उपसम्पन्न' को 'उपाध्याय' तथा 'आचार्य' के आधीन, उनकी देख-रेख में जीवन बिताना होता था। १० वर्ष तक जो संघ में रह चुका हो वह 'उपाध्याय' कहाता था, ६ वर्ष तक संघ में रह चुकने वाला 'आचार्य' कहाता था। 'उपाध्याय' का काम 'उपसम्पन्न' को धर्म ग्रन्थों की शिक्षा देना था, 'आचार्य' का काम उसके आचार-व्यवहार को देखना था। ब्राह्मण-काल में 'आचार्य' का स्थान 'उपाध्याय' से ऊंचा होता था, परन्तु बौद्ध-काल में 'उपाध्याय' का स्थान 'आचार्य' से ऊंचा था। १० वर्ष तक 'उपाध्याय' तथा 'आचार्य' के आधीन शिक्षा ग्रहण करने के बाद 'उपसम्पन्न' स्वयं 'उपाध्याय' अथवा 'आचार्य' बन जाता था, और 'भिक्षु' बन कर अन्य भिक्षुओं को शिक्षा दे सकता था।



ब्राह्मण-काल की तरह बौद्ध काल में भी शिष्य का काम गुरु की सेवा करना होता था। वह प्रातः काल उठता था, गुरु को दातुन देता था, मुख धोने के लिए गुरु के लिए पानी लाकर रखता था। फिर उसकी चौकी बिछा कर उसे खाने को देता था, सारे मकान में झाड़ू लगाता था। गुरु बोल रहा हो तो बीच में नहीं बोलता था। गुरु जब भिक्षा लेने जाता हो तो उसके बर्तन को साफ कर इसकी सारी तय्यारी कर देता था। स्वयं साथ जाय तो उसके आने से पहले ही लौट आता था। उसके बैठने आदि की पूरी तय्यारी करता था। गुरु के स्नान के लिए सब सामान जुटाता था, और गुरु सेवा के सभी काम करता था, गुरु के रोगी पड़ जाने पर जान लड़ा कर उसकी सेवा करता था।

जिस प्रकार शिष्य के लिए गुरु को पिता समझ कर उसकी सेवा करना आवश्यक था, इसी प्रकार गुरु के लिए शिष्य को पुत्र समझ कर उसकी सब प्रकार की सहायता करना आवश्यक था। शिष्य को पढ़ाना-लिखाना, उसे कपड़े तथा भोजन देना, और रोगी पड़ जाने पर उसकी जी जान से सेवा करना गुरु के लिए आवश्यक माना गया था। प्रत्येक 'उपाध्याय' अथवा 'आचार्य' के नीचे कम-से कम दो, और अधिक से अधिक इतने 'उपसम्पन्न' रह सकते थे जितनों की वे अच्छी तरह देख भाल कर सकते थे।

विहार—

'उपाध्यायों' तथा 'आचार्यों' के आश्रम बिल्कुल बिखरे हुए और असम्बद्ध नहीं होते थे। एक स्थान पर अनेक आश्रमों के निर्माण से 'विहार' बनते थे। एक-एक 'विहार' में अनेक 'उपाध्याय' तथा 'आचार्य' अपने भिक्षु शिष्यों के साथ रहते थे। ब्राह्मण-काल तथा बौद्ध काल की शिक्षा प्रणाली में यह भेद है कि ब्राह्मण काल में तो 'आचार्य' लोग अपने अपने आश्रमों में रहते थे, शिष्यों

को पढ़ा देते थे, व्यक्ति रूप में जीवन व्यतीत करते थे, परन्तु बौद्ध-काल में अनेक 'उपाध्याय' तथा 'आचार्य' मिलकर एक जगह रहते थे, और उस स्थान का नाम 'विहार' होता था। 'बिहार'-प्रान्त में 'विहार' बहुत थे इसलिए उसे 'बिहार' कहते हैं। कभी-कभी तो एक ही स्थान पर इतने 'उपाध्याय' तथा 'आचार्य' रहते थे कि अपने भिक्षु-शिष्यों को मिला कर उनकी संख्या हजारों तक पहुँच जाती थी। नालन्दा के 'विहार' में १० हजार भिक्षु निवास करते थे। 'विहारों' में क्योंकि भिन्न-भिन्न 'उपाध्यायों' तथा 'आचार्यों' का निवास होता था अतः वहाँ अनेक प्रकार की नियन्त्रण सम्बन्धी समस्याएं भी उठ खड़ी होती थीं। कभी-कभी एक 'उपाध्याय' के शिष्यों को दूसरे 'उपाध्याय' 'विहार' से निकाल देते थे, इस पर बुद्ध ने नियम बनाया कि जिस 'उपाध्याय' का कोई शिष्य हो उसकी बिना अनुमति के उसे पृथक् नहीं किया जा सकता। कभी-कभी एक 'उपाध्याय' के शिष्य को दूसरे 'उपाध्याय' के शिष्य बहका कर अपनी मण्डली में सम्मिलित कर लेते थे। इस पर बुद्ध ने नियम बनाया कि कोई 'उपाध्याय' दूसरे 'उपाध्यायों' के शिष्यों को अपने पास नहीं रखेगा। अगर कोई शिष्य प्राणी-वध, चोरी, व्यभिचार, झूठ, नशा सेवन, 'बुद्ध'-'धर्म'-'संघ' की निन्दा तथा भिक्षुणियों के साथ दुर्व्यवहार करता हुआ पाया जाता था, तो बिना दूसरे 'उपाध्यायों' की सलाह के 'विहार' से निकाल दिया जाता था।

भोजन, वस्त्र, तथा निवास के नियम—

भिक्षु का जीवन अत्यन्त सादा होता था। भिक्षा-पात्र, सुई-धागा, कैंची, औषध, चप्पल तथा जल छानने के कपड़े के सिवाय उसकी कोई सम्पत्ति नहीं होती थी। भोजन के लिए भिक्षा-वृत्ति का विधान था। भिक्षा के लिए विस्तृत नियम बने हुए थे। भिक्षा के लिए जाते समय कपड़ा पहन कर जाना चाहिए। ईंधन,

बोलना आदि नहीं चाहिए। किसी घर में जाते हुए बाहर आने का मार्ग पहले देख लेना चाहिए। घर से बहुत दूर, बहुत निकट या कहीं बहुत देर तक भिक्षा के लिए नहीं खड़े रहना चाहिए। कोई देवी भिक्षा दे रही हो, उसकी तरफ आँख उठा कर नहीं देखना चाहिए। ब्राह्मण-काल में तो पुकार कर भिक्षा माँगी जाती थी, बौद्ध-काल में चुपके से भिक्षा लेने का विधान था। एक प्रकार से भिक्षा देना गृहस्थों का ऊँचा अधिकार समझा गया है, यह माँगी नहीं जाती। जो गृहस्थ 'बुद्ध', 'धर्म' या 'संघ' की निन्दा करें उनसे भिक्षा करने को मना किया गया है। लिच्छवी स्थान के वड्ढ व्यक्ति ने मल्ल के द्रव्य पर कुछ अनुचित आक्षेप किये थे। परिणाम स्वरूप संघ ने लिच्छवी के वड्ढ का भिक्षा के लिए बहिष्कार कर दिया, और उसके प्रायश्चित्त करने पर बहिष्कार को उठाया। इसके लिए 'संघ' का विशेष प्रस्ताव करना पड़ा। कई भिक्षुओं को इकट्ठा किसी के घर नहीं पहुँचना चाहिए, एक ही स्थान से तीन से अधिक भिक्षु भिक्षा नहीं ले सकते थे। दूसरे के पात्र की भिक्षा को लालच की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। खाते हुए सने हुए हाथों से जल-पात्र को नहीं उठाना चाहिए। जब तक सब भिक्षु भोजन न कर लें तब तक मुख्य भिक्षु को हाथ धोने के लिए जल नहीं लेना चाहिए। अगर कोई धनिक संघ के लिए भिक्षा का निमन्त्रण दे तब भी चार मास से अधिक एक ही 'उपासक' के यहाँ भिक्षा नहीं करनी चाहिए।

बुद्ध के समय में निगन्थ, अचेलक तथा आजीवक नाम के सम्प्रदाय थे जो वस्त्र धारण नहीं करते थे। बुद्ध ने तो हर दिशा में 'मध्य मार्ग' का उपदेश दिया था, इसलिए वस्त्रों के सम्बन्ध में भी उसका यही उपदेश था कि उचित तथा पर्याप्त वस्त्रों को धारण करना चाहिए। एक भिक्षु नग्न होकर बुद्ध के पास आकर कहने

लगा कि वस्त्रों का धारण निषिद्ध कर दिया जाय। बुद्ध ने उसे कहा, मूर्ख! तू वस्त्र धारण क्यों नहीं करता? बुद्ध ने वस्त्र को तीन भागों में बाँटा था, अतः अङ्ग ढापने के वस्त्र को 'त्रिचीवर' कहते थे। 'त्रि-चीवर' के तीन भाग थे—'अन्तर्वासक', 'उत्तर संग' तथा 'संघाती'। 'अन्तर्वासक' लंगोटे की तरह का था, 'उत्तर संग' शरीर ढाँपने का वस्त्र था, और 'संघाती' बाहर से कमर को बाँधने का वस्त्र था।

निवास के सम्बन्ध में बौद्ध-ग्रन्थों में यह लिखा है कि पहले-पहल भिक्षु लोग कहीं नहीं रहते थे, स्थान-से-स्थान में फिरा करते थे। राजगृह के सेठ ने यह देखकर बुद्ध से कहा कि मैं भिक्षुओं के रहने के लिए निवास-स्थान बनाना चाहता हूँ। बुद्ध ने उसे ५ प्रकार के निवास स्थान बनाने की आज्ञा दी। 'विहार'-'अड्डयोग'-'प्रासाद'-'हर्म्य' तथा 'गुहा'। 'विहार' कई मञ्जिलों के मकान को कहते हैं। इसके चारों तरफ 'आराम' या एक सुन्दर बगीचा होता है। 'अड्डयोग' गरुड़ के आकार के मकान को कहते हैं। 'प्रासाद' और 'हर्म्य' महल जैसे मकानों को कहते हैं। 'गुहा' कन्दरा को कहते हैं। बुद्ध की आज्ञा पाकर राजगृह के श्रेष्ठी ने एक ही दिन में ६० निवास स्थानों का निर्माण कर दिया, और उन्हें सङ्घ को सौंप दिया। वर्षा ऋतु में इन निवास स्थानों में भिक्षु लोग 'वर्षा वास' करने लगे। इन निवास-स्थानों में 'जेतवन विहार' अत्यन्त प्रसिद्ध है। कहते हैं कि जेत नामक राजा का एक 'आराम' था, जङ्गल था, जो 'विहार' के लिए अत्यन्त उपयुक्त स्थान था। बुद्ध के शिष्य अनाथ पिंडिक के हृदय में इच्छा हुई कि वहाँ पर एक 'विहार' बना कर सङ्घ की भेंट कर दिया जाय। उसने जेत से उस स्थान का दाम पूछा। जेत ने कहा कि अगर इस स्थान में सुवर्ण की मोहरें बिछा दी

जाँय तब भी इसका दाम नहीं चुकाया जा सकता। अनाथ पिंडिक सुवर्ण मोहरों को यहाँ बिछाकर उस स्थान को लेने के लिए तय्यार हो गया। जेत बहुत चकराया, परन्तु उसने देने से फिर भी इन्कार किया। मामला अदालत में गया, और अनाथ पिंडिक की शर्त पर वह स्थान दिये जाने का फ़ैसला हुआ। सेठ ने उस स्थान को अशर्फ़ियों से बिछा दिया। थोड़ा सा स्थान फिर भी बच रहा। जेत ने इस भक्ति को देखकर उस बचे हुए स्थान को अपनी तरफ़ से देने को कहा, और वहाँ 'जेतवन' नामक 'विहार' बना। 'जेतवन' की तरह अनेक विहार प्रसिद्ध थे। यष्टि वन, वेणु वन, शीत वन, राज गृह में थे, जेत वन और पूर्वाराम श्रावस्ती में थे, महा वन, कूटागार, आम्र वन वैशाली में थे, न्यग्रोधाराम कपिल वस्तु में था। ये सब 'विहार' भिक्षुओं के शिक्षा के केन्द्र थे।

शिक्षा के विषय—

'विहारों' में बौद्ध भिक्षुओं की शिक्षा का प्रबन्ध था, उन्हें बौद्ध धर्म के ग्रन्थों का ज्ञान कराया जाता था। बौद्ध-धर्म ग्रन्थ 'त्रिपिटक' कहलाते हैं। 'उपाध्याय' तथा 'आचार्य' विहारों में बैठ कर 'त्रिपिटक' की शिक्षा देते थे। 'त्रिपिटक' के तीन हिस्से हैं: 'विनय पिटक', 'सुत्त पिटक' तथा 'अभिधम्म पिटक'। 'विनय पिटक' में भिक्षुओं के नियन्त्रण का वर्णन है। भिक्षु भिक्षुणियों को कैसे रहना चाहिए—इस सब का वर्णन 'विनय-पिटक' में किया गया है। 'विनय पिटक' के पाँच हिस्से हैं— भिक्खु विभंग, भिक्खुनी विभंग, महावग्ग, चुल्लवग्ग तथा परिवार पाठ। 'सुत्त पिटक' में भगवान् बुद्ध के उपदेशों का संग्रह है। इसके भी पाँच भाग हैं— दीघ निकाय, मज्झिम निकाय, संयुत्त निकाय, अंगुत्तर निकाय,

खुद्दक निकाय। 'अभिधम्म पिटक' में आध्यात्मिक बातों का उल्लेख है। इसके ७ भाग हैं—धम्म सगनी, विभंग, कथावत्थु, पुग्गल पञ्ञत्ति, धातु कथा, यमक, पत्थान। संस्कृत में पढ़ाने के स्थान में देशी भाषाओं में शिक्षा देना ही सर्वोचित समझा जाता था।

इस प्रकार 'त्रिपिटकों' के ज्ञान के साथ-साथ व्याकरण आदि का ज्ञान भी भिक्षुओं को कराया जाता था।

२८

तक्षशिला तथा नालन्दा विश्वविद्यालय
(EDUCATION IN TAXILLA AND NALANDA UNIVERSITIES)

१ — तक्ष-शिला
(६ठी से ४थी शताब्दी ई० पू०)

जो लोग बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेते थे उनकी शिक्षा का काम तो बौद्ध-संघ के हाथ में चला जाता था, उन्हें धार्मिक-शिक्षा ही दी जाती थी, जो बौद्ध धर्म ग्रहण नहीं करते थे, उनकी शिक्षा भी प्राचीन ब्राह्मण-पद्धति का अनुसरण करते हुए भिन्न भिन्न शिक्षा-केन्द्रों द्वारा चलती थी। एक आचार्य के पास पाँच-पाँच सौ शिष्य रहते थे। इस प्रकार के आश्रम भारत के कोने-कोने में बिछे पड़े थे। उस समय ६ठी शताब्दी ई० पू० में उत्तर-भारत में गन्धार की राजधानी 'तक्ष-शिला' थी, जो शिक्षा का एक बड़ा भारी केन्द्र थी। यह वर्तमान रावलपिंडी के निकट थी। उस समय की शिक्षा को समझने के लिए 'तक्षशिला'-विश्वविद्यालय का वर्णन करना अप्रासंगिक न होगा।

जातक ग्रन्थ में एक कथा आती है कि काशी के राजा ब्रह्मदत्त का पुत्र जब १६ वर्ष का हो गया तो उसे १ चप्पल, १ छाता तथा

एक हजार मुद्राएं देकर राजा ने कहा, बेटा ! जाओ, तक्ष शिला में जाकर विद्याध्ययन करो। यद्यपि बनारस में अनेक पंडित थे, तो भी उन दिनों यह प्रथा थी कि बालक को विद्याध्ययन के लिये दूर देश में भेजा जाता था ताकि वह संसार का ऊंच-नीच भी समझ सके। बालक माता पिता को नमस्कार कर कुछ दिनों में तक्ष-शिला जा पहुंचा। वहाँ पर इस थके-मारे विद्यार्थी को देख कर गुरु ने पूछा, तुम कौन हो, कहाँ से, और क्यों आये हो ? विद्यार्थी ने कहा, मैं काशी के राजा का पुत्र हूँ, विद्याध्ययन के लिए आया हूँ। गुरु ने पूछा, क्या गुरु-दक्षिणा भी साथ लाये हो, या गुरु-सेवा द्वारा ही दक्षिणा चुका देना चाहते हो ? विद्यार्थी ने एक हजार मुद्राएं गुरु के चरणों में रख दीं और विद्याभ्यास करने लगा।

तक्ष शिला उन दिनों विद्या का केन्द्र था। बनारस, राज-गृह, मिथिला, उज्जैनी, कोशल, मध्य-प्रदेश शिवि, कुरु, तथा उत्तर देश से विद्यार्थी यहाँ पढ़ने को आते थे। यहाँ के आचार्य जगत्-प्रसिद्ध थे। किसी एक ही प्रकार की शिक्षा यहाँ नहीं दी जाती थी, वेदों के साथ साथ धनुर्विद्या, आयुर्वेद का ज्ञान, चित्रकारी, स्तूप निर्माण तथा अन्य विद्याएं भी सिखाई जाती थीं। धनी-मानी लोग अपने पुत्रों को इसी जगह विद्याभ्यास के लिए भेजते थे। 'अगर उनका पुत्र विद्याभ्यास पूर्ण करके उनके जीवन-काल में ही लौट आता था तो वे अपने को धन्य मानते थे। तक्ष-शिला उच्च-शिक्षा का केन्द्र था। छोटी आयु के बालक यहाँ नहीं लिए जाते थे। शिक्षा शुल्क एक हजार मुद्रा लिया जाता था। जो शुल्क नहीं दे सकते थे वे गुरु-सेवा द्वारा शुल्क चुका देते थे। दिन को वे काम करते थे, रात को पढ़ते थे। जो शुल्क भी नहीं दे सकते थे, और रात को भी नहीं पढ़ना चाहते थे, वे विद्या समाप्त करने के बाद शुल्क चुकाते थे, परन्तु शुल्क न दे सकने के कारण किसी को विद्या से वंचित नहीं

किया जाता था। जनता के धनी-मानी लोग विद्यार्थियों को भोजन देते थे। तक्ष शिला के ५०० विद्यार्थियों को आस पास के गावों के लोगों द्वारा भोजन देने का वर्णन मिलता है। राज्य की तरफ से भी सहायता दी जाती थी। तक्षशिला में कई ब्राह्मणों को कई राजा लोग छात्र वृत्ति देकर पढ़ाते थे। जो शुल्क लिया जाता था वह गुरु के लिए नहीं होता था, वह विद्यार्थियों के भरण पोषण पर ही व्यय हो जाता था। यह आवश्यक नहीं था कि सब विद्यार्थी आश्रम में ही रहें। बनारस का एक राजकुमार शहर में अपने घर में रहता था, और तक्ष-शिला में पढ़ने आया करता था। कई विद्यार्थी विवाहित भी होते थे, वे घर पर रहते थे, और पढ़ने तक्ष शिला जाया करते थे। सब विद्यार्थी एक समान रहते थे। काशी के राजा का पुत्र १ चप्पल लेकर ही आया था, और १ हजार मुद्राएँ जो लाया था उन्हें गुरु के अर्पण कर चुका था, उसके पास अन्य धन नहीं था। एक अन्य राज-कुमार का वर्णन आता है कि रात को चलते हुए एक ब्राह्मण विद्यार्थी का भिक्षा पात्र उस की ठोकर से टूट गया। उसे कह दिया गया कि एक समय भोजन कर के दाम चुकता करो। उसने कहा कि जब मैं घर लौट कर जाऊंगा, राज हाथ में लूंगा, तब सब चुकता कर दूंगा। इससे भी यही प्रतीत होता है कि विद्यार्थी लोग गरीबी से जीवन व्यतीत करते थे। ५०० विद्यार्थियों को एक गुरु के लिए पढ़ा सकना कठिन था, इसलिए तीव्र बुद्धि शिष्यों से गुरु लोग पढ़ाने में सहायता लेते थे। तक्ष-शिला का एक अध्यापक जब किसी काम से बनारस जाने लगा तब अपने शिष्य को अपने स्थान पर पढ़ाने के लिए नियुक्त कर गया, इसी को आजकल 'मानीटर'-प्रणाली कहा जाता है। दिन में कई बार पाठ चलता था। गरीब विद्यार्थियों के लिए जो दिन को काम करते थे रात को पाठ चलता था। तक्षशिला

में तीनों वेदों तथा १८ शिल्पों के अध्ययन के लिए विद्यार्थी आते थे। तक्ष-शिला के भिन्न-भिन्न विद्यालयों में हस्ति-विद्या, जादूगरी, मुर्दों को जिलाना, शिकार, पशुओं की आवाजों को समझना, धनु-विद्या, भविष्यवाणी करना, आयुर्वेद आदि विद्यायें पढ़ाई जाती थीं और प्रत्येक विद्यालय उस विषय के धुरंधर विद्वान् के आधीन शिक्षा देता था।

पढ़े हुए का क्रियात्मक ज्ञान लेना तक्ष-शिला के विद्यार्थियों के लिए आवश्यक था। मगध का राज-कुमार तक्ष-शिला में सब कलाओं का अध्ययन करने के अनन्तर गाँव-गाँव, शहर शहर में क्रियात्मक अनुभव लेने के लिए विचरण करता रहा। तक्ष-शिला के श्वेतकेतु नामक विद्यार्थी के विषय में लिखा है कि सब कलाओं का क्रियात्मक अध्ययन करने के लिए वह भिन्न भिन्न स्थानों में भ्रमण करता रहा। मगध के एक राज कुमार का वर्णन करते हुए लिखा है कि तक्ष-शिला में शिक्षा प्राप्त करने के अनन्तर वह क्रियात्मक अनुभव लेने के लिए भिन्न भिन्न स्थानों के लिए चल पड़ा। तक्ष-शिला ने बड़े-बड़े विद्वान् उत्पन्न किये। चाणक्य जो चन्द्रगुप्त का सलाहकार था, यहीं का पढ़ा हुआ था। भारत का सब से प्रसिद्ध व्याकरण का विद्वान् पाणिनी भी तक्ष शिला का ही विद्यार्थी था। चीर-फाड़ के प्रसिद्ध वैद्य जीवक ने यहीं विद्याभ्यास किया था। तक्ष-शिला से विद्याभ्यास कर चुकने पर यहाँ के विद्यार्थियों ने बनारस आदि में अनेक विद्या केन्द्र खोले थे जहाँ तक्ष शिला की तरह ही सैंकड़ों शिष्यों को लेकर गुरु लोग बालकों को पढ़ाते थे।

जीवक—

तक्ष शिला में शिक्षा प्राप्त करने के अनन्तर विद्यार्थी की कितनी उच्च योग्यता हो जाती थी, इसका दृष्टान्त जीवक की जीवन-कथा से मिलता है। वह राजगृह की नगर वधू शालवती का लड़का था

जिसे कूड़े के ढेर पर फेंक दिया गया था। अभय नामक राज कुमार ने उसे जीवित उठा लिया और उसे पाला पोसा। जीवक जब बड़ा हुआ तो उसने सोचा कि राज-घरानों में रह कर बिना किसी हुनर के जीवन निर्वाह कठिन है, अतः तक्षशिला जाकर कुछ सीख आऊं। उस ने तक्षशिला जाकर एक जगत् विख्यात् गुरु से चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन किया। ७ वर्ष तक विद्याध्ययन करने के बाद उसने गुरु से पूछा कि मेरा विद्याध्ययन कब समाप्त होगा? गुरु ने जीवक से कहा कि तक्षशिला के चारों तरफ एक योजन तक जाकर देखो और जिस बूटी का तुम्हें ज्ञान न हो उसे उखाड़ कर ले आओ। जीवक ने चार दिन तक चारों तरफ घूम कर देखा, और गुरु से आकर कहा कि मुझे कोई भी बूटी ऐसी नहीं मिली जिस का औषध के रूप में मैं प्रयोग नहीं जानता। गुरु ने कहा, जीवक! तुम्हारा अध्ययन समाप्त हो गया, अब तुम घर जा सकते हो, यह कह कर उसने जीवक को मार्ग व्यय के लिए कुछ धन दिया। यह धन इतना ही था कि जीवक साकेत पहुंच सका। वहां जाकर उसे कुछ कमाने की आवश्यकता अनुभव हुई। साकेत में एक सेठ की पत्नी ७ साल से सिर की बीमारी से पीड़ित थी। सब वैद्यों का इलाज हो चुका था, कुछ लाभ नहीं हुआ था। जीवक ने प्रस्ताव किया कि उसे तभी कुछ दिया जाय अगर वह रोगिणी को ठीक कर दे। उसने रोगिणी को नाक से एक औषध दी और वह एक ही मात्रा से ठीक हो गई। सेठ ने जीवक को १६,००० मुद्राएं दीं, गाड़ी घोड़े दिये। जीवक ने राजगृह लौट कर इन उपहारों को उस राजकुमार को भेंट कर दिया जिसने उसे पाला-पोसा था। इसके बाद जीवक ने महाराज बिम्बिसार का नासूर ठीक किया और राजा ने उसे राज वैद्य नियत कर दिया, साथ ही 'बुद्ध' तथा 'संघ' का भी उसी को वैद्य नियुक्त किया। राजगृह में एक सेठ

सात साल से सिर की बीमारी से पीड़ित था। जीवक ने उसे चारपाई से बांध दिया, सिर का आपरेशन किया, सिर के व्रण में से दो कृमि निकाले, और सिर को सी कर मरहम लगा दी। वह सेठ कुछ ही दिनों में ठीक हो गया। बनारस में किसी सेठ के लड़के की आंतें उलझ गई थीं, वह खा पी नहीं सकता था। जीवक ने उसका पेट चीरा, उसकी आंतें निकालीं, उन्हें सुलझाया, फिर ठीक स्थान में रख कर सी दिया। कुछ ही दिनों में लड़का ठीक हो गया। सेठ ने जीवक को १६ हजार मुद्राएँ भेंट कीं।

२—नालन्दा

(७वीं शताब्दी ई० प०)

बौद्ध सङ्घ की स्थापना के समय भारतीय शिक्षा का क्या रूप था, इसका उल्लेख हम कर चुके हैं। पाँचवीं शताब्दी में चीनी यात्री फा-हीयान (Fa-hien) भारत में आया। वह ३६६ से ४१४ ई० प० तक १५ वर्ष भारतवर्ष में भ्रमण करता रहा। उस ने उद्यान (स्वात) में ५०० सङ्घाराम (बौद्ध-सङ्घ के मठ) पाये जिनमें अनेक बौद्ध भिक्षु हीनयान सम्प्रदाय के मानने वाले रहते थे। पंजाब में अनेक विहार थे, जिनमें हीनयान तथा महायान सम्प्रदायों के मानने वाले भिक्षु रहते थे। यमुना के किनारे किनारे लगभग २० विहार थे जिनमें ३००० भिक्षु शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। फा-हियान के वर्णन में तक्ष-शिला का उल्लेख नहीं है जिससे ज्ञात होता है कि उस समय तक यह विश्व-विद्यालय क्षीण प्राय हो चुका था। पुष्पपुर (पेशावर) में एक विहार था जिसमें ७०० भिक्षु रहते थे। श्रावस्ती का जेतवन विहार फल फूल रहा था। कुशी-नगर में जहां बुद्ध का देहान्त हुआ था अनेक विहार थे। वैशाली में बुद्ध के समय अम्बपाली द्वारा निर्मित

विहार वैसा ही मौजूद था। पाटलीपुत्र, राजगृह, गया, बनारस, कौशाम्बी, ताम्रलिप्ति आदि सभी स्थानों पर प्राचीन बौद्ध-परम्परा के अनुसार विहार चल रहे थे जिनमें भिक्षु शिक्षा पाते थे।

फाहियान के दो शताब्दी बाद हुएनसांग (Hiuen Tsang) भारत आया, और ६२६ से ६४८ ई० प० तक १६ वर्ष यहाँ रहा। यहां से जाते हुए वह ६५७ बौद्ध धर्म पुस्तकें और २० छकड़ों पर बुद्ध के अन्य अवशेष लाद कर ले गया। उसने भिन्न भिन्न स्थानों में फिर कर प्राचीन विहारों का निरीक्षण किया। कई ठीक तरह से चल रहे थे, कई खण्डहर हो चुके थे। उस समय भी ५००० के लगभग विहार थे जिनमें २१२१३० भिक्षु प्राचीन बौद्ध प्रणाली के अनुसार विद्याभ्यास कर रहे थे। हुएनसांग ने अनेक विहारों का वर्णन किया है जिनमें नालन्दा का वर्णन विशेष उल्लेखनीय है। हुएनसांग ६४८ ईस्वी में भारत से वापस लौटा, इत्सिंग (I tsing) ६७२ ईस्वी में भारत आया और ६८५ ई० तक यहां रहा। इस बीच १० वर्ष उसने नालन्दा में व्यतीत किये। हम यहां हुएनसांग तथा इत्सिंग का दिया हुआ नालन्दा का वर्णन करेंगे जिससे ७वीं शताब्दी की भारतीय शिक्षा-प्रणाली पर प्रकाश पड़े।

बिहार प्रान्त के राजगिर स्थान से ७ मील दूरी पर 'बरगाव' नामक स्थान है। प्राचीन-काल में इसी का नाम 'नालन्दा' था। हुएनसांग लिखता है कि 'नालन्दा' का अर्थ है, 'न+अलं+दा'— जो देता ही चला जाय, देते देते जिसका जी न भरे। ऐसा प्रतीत होता है कि यहां विद्या अरपेट दी जाती थी, विद्या दान में किसी का जी न अघाता था। प्राचीन काल में ५०० व्यापारियों ने बुद्ध को १० कोटि सुवर्ण मुद्रा से खरीद कर यह स्थान भेंट

किया था और पीछे गुप्त-सम्राटों ने १०० गांवों की आमदनी दान देकर 'नालन्दा' की निःशुल्क शिक्षा को हरा भरा रखा था। यद्यपि गुप्त सम्राट् हिन्दू धर्म के अनुयायी थे तो भी उन्होंने बौद्ध संस्था को दिल खोल कर सहायता दी थी,—इनसे उनके उदार विचारों का पता चलता है। विश्व विद्यालय के चारों तरफ एक दीवार थी जिसे गुप्त-राजा हर्ष ने बनवाया था। नालन्दा के भवन छः मंजिले थे, ऊपर की मंजिलें बादलों में सिर ऊंचा किये खड़ी थीं। आठवीं शताब्दी के राजा यशोवर्मन् का एक शिला-लेख मिला है जिससे हुएन्त्सांग के कथन की पुष्टि होती है। शिला-लेख में नालन्दा की 'विहारावली' का वर्णन करते हुए उसकी 'शिखर श्रेणी' को 'अम्बुधरावलेही'—मेघों का चुम्बन करने वाली लिखा है। भूमि में चारों तरफ सरोवर बने हुए थे जिनमें भाँति-भाँति के कमल खिल रहे थे।

नालन्दा के चालू खर्च के लिए समय-समय पर भिन्न भिन्न राजा दान देते थे और भिक्षुओं के भोजन का भी प्रबन्ध करते थे। इस प्रकार जो धन-राशि आती थी उससे भिक्षुओं को वस्त्र, भोजन, बिस्तर, औषध आदि सब कुछ मुफ्त दिया जाता था। हुएन्त्सांग के समय यहां १० हजार विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। चीनी यात्रियों के विवरणों से ज्ञात होता है कि किसी समय यहाँ १५१० अध्यापक तथा =५०० विद्यार्थी थे। नालन्दा में = बड़े-बड़े हॉल थे, ३०० छोटे छोटे कमरे थे, इनमें भिन्न भिन्न विषयों पर १०० व्याख्यान प्रतिदिन होते थे। विश्वविद्यालयों में प्रवेश पाने के लिए जो विद्यार्थी आते थे उनकी प्रवेश द्वार पर ही 'द्वार पंडित' परीक्षा लेते थे। यह परीक्षा इतनी कठिन होती थी कि १० में से २-३ विद्यार्थी ही नालन्दा में प्रवेश पा सकते थे, शेष लौट जाते थे क्योंकि नालन्दा उच्च शिक्षा का ही केन्द्र था।

नालन्दा की पढ़ाई की चर्चा करते हुए इत्सिंग ने लिखा है कि वहां 'पञ्च विद्या' मुख्य तौर पर पढ़ाई जाती थीं। वे थीं—(१) 'शब्द विद्या' अर्थात् व्याकरण, (२) 'शिल्प स्थान विद्या' अर्थात् कला, (३) 'चिकित्सा विद्या', (४) 'हेतु विद्या' अर्थात् न्याय शास्त्र तथा (५) 'अध्यात्म विद्या'। इससे यही प्रतीत होता है कि यद्यपि नालन्दा महायान सम्प्रदाय का केन्द्र था तो भी वहां सब प्रकार की विद्याएं पढ़ाई जाती थीं।

उन दिनों नालन्दा की चारों तरफ धूम थी। तिब्बत, चीन, कोरिया, जापान, बर्मा, सुमात्रा, जावा, तुर्किस्तान से विद्यार्थी यहां आते थे। प्रातः से सायं तक वाद विवाद होते थे। प्रश्नोत्तर होते थे, और जैसे गुरु शिष्यों को पढ़ाने में सहायता देते थे वैसे शिष्य लोग एक-दूसरे को पाठ के समझने में सहायता देते थे। नालन्दा का नाम इतना प्रसिद्ध हो गया था कि प्रतिष्ठा पाने के लिए यह कह देना पर्याप्त था कि मैंने नालन्दा में शिक्षा पाई है। कई झूठ मूठ अपने को नालन्दा का विद्यार्थी कहने लगे थे। क्योंकि नालन्दा में हरेक प्रवेश नहीं पा सकता था इसलिए नालन्दा के पढ़े हुए का विशेष सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था।

नालन्दा में एक विशाल पुस्तकालय था जिसका नाम 'धर्म गञ्ज' था। इस पुस्तकालय के तीन भवन थे—'रत्नसागर', 'रत्नोदधि' तथा 'रत्न रञ्जक'। इनमें 'रत्नसागर' नौ मंजिल ऊंचा था, और इसमें 'प्रज्ञापारमिता सूत्र' तथा अन्य अनेक दुष्प्राप्य ग्रन्थों का संग्रह था।

भारत के भिन्न भिन्न कोनों से विद्वान शिक्षा ग्रहण करने नालन्दा आते थे, उनमें से नागार्जुन तथा उनके शिष्य आर्य देव के नाम विशेष उल्लेख के योग्य हैं। ये दोनों दक्षिण भारत के थे। नागार्जुन तथा आर्य देव चौथी शताब्दी में नालन्दा आए थे जिनसे

प्रतीत होता है कि यह संस्था चौथी शताब्दी में पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी थी। इन दोनों ने अनेक ग्रन्थ लिखे थे। हुएन्त्सांग के समय नालन्दा का कुलपति शीलभद्र था। वह जन्म से ब्राह्मण था, सन्यास ले चुका था और न्याय-शास्त्र का महान् पंडित था। शील-भद्र से पूर्व नालन्दा का कुलपति धर्मपाल था जो हुएन्त्सांग के आने के समय अवकाश ग्रहण कर चुका था। वह व्याकरण का पंडित था और दक्षिण-भारत का रहने वाला था। ये सब विद्वान् दूर-दूर से आकर नालन्दा में टिक गये थे, इससे ज्ञात होता है कि नालन्दा की ख्याति सब जगह फैल चुकी थी।

भारतवर्ष की शिक्षा के इस विशाल केन्द्र को पुस्तकालय समेत बख्तियार ने मुहम्मद गोरी के समय १२०० ईस्वी में जला कर नाश कर दिया। इसी बख्तियार ने भारत के एक दूसरे विश्व-विद्यालय विक्रमशिला को भी नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

२७

मध्य-काल में शिक्षा

(EDUCATION IN MEDIEVAL PERIOD)

१—'मुसलमान'-काल में शिक्षा

भारत का मध्य काल का इतिहास 'मुसलमान' तथा 'मुगल' बादशाहों का इतिहास है। 'मुसलमान' काल के छः भाग किये जाते हैं—'गोरी वंश', 'गुलाम वंश', 'खिलजी-वंश', 'तुगलक-वंश', 'सैय्यद-वंश', 'लोदी वंश'। 'मुगल काल' का प्रारम्भ बाबर से होता है, और यह अंग्रेजों के भारत में आने पर समाप्त होता है। 'मुसलमान' काल १२०६ से १५२६ तक है। 'मुगल काल' १५२६ से १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ—अंग्रेजों के यहाँ आने—तक है।

जिस प्रकार हम देख चुके हैं कि ब्राह्मण तथा बौद्ध काल में धार्मिक शिक्षा पर अधिक बल दिया जाता था इसी प्रकार मुसलमानों तथा मुगलों के काल में इस्लाम की शिक्षा पर विशेष बल दिया जाता था। यहाँ के लोगों में तो एक दूसरे के विचारों के लिए सहिष्णुता तथा सहानुभूति थी भी, परन्तु मुसलमानों में मूर्ति पूजा के भंजन के प्रति ही विशेष उत्साह था। वे मूर्ति पूजा के केन्द्र मन्दिरों को तोड़ते थे, मस्जिद बनवाते थे, अन्य मतावलम्बियों को मुसलमान बनाते थे, यहाँ के प्रचलित विद्यालयों की जगह अपने तथा अन्य मतों से मुसलमान

बने हुए बालकों को शिक्षा देने के लिए 'मकतब' तथा 'मदरसे' खोलते थे।

गौरी-वंश के मुहम्मद गौरी (११७५-१२०६) ने अजमेर में मन्दिर तुड़वाकर उनकी जगह मस्जिदें बनवायीं और कुछ विद्यालय भी खोले। उसका कोई पुत्र न था, परन्तु उसके पास अनेक गुलाम थे। इन गुलामों की शिक्षा का उसने प्रबन्ध किया था। इन्हीं गुलामों में से एक का नाम कुतुबुद्दीन था, जो मुहम्मद गौरी के पीछे दिल्ली का बादशाह बना, और उसके नाम से गुलाम वंश (१२०६-१२९०) चला। कुतुबुद्दीन ने भी मन्दिर तोड़ कर मस्जिदें बनवायीं, इसी के एक अफसर बख्तियार ने नालन्दा तथा विक्रमशिला विश्वविद्यालयों को तहस नहस किया। इसने मस्जिदों के साथ 'मकतब' तथा 'मदरसे' खोले। गुलाम वंश के बाद खिलजी वंश (१२९०-१३२०) आया। इस वंश के अलाउद्दीन ने अपने पूर्वजों द्वारा मुल्लाओं को दी हुई जागीरें छीन लीं और शिक्षा को किसी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं दिया। खिलजी वंश के बाद तुगलक वंश (१३२०-१४१४) आया। इस वंश के मुहम्मद तुगलक ने दिल्ली को उजाड़ कर दौलताबाद को नई दिल्ली बसाना चाहा, जिससे सब बने-बनाये मदरसे उजड़ गये, दिल्ली जो विद्वानों का केन्द्र थी उसमें कोई विद्वान् ढूँढने को न मिलता था। बाद को इस वंश के फिरोज तुगलक के समय अवस्था कुछ सुधर गई। उसके पास १८ हजार गुलाम थे। वह उनकी शिक्षा के विषय में विशेष चिंतित था। कहते हैं उसने ३० मदरसों की स्थापना की। जो शिल्पशालायें गुलामों के लिए खोले गये थे उन में उन्हें हाथ की कारीगरी, किताबत तथा दूसरे काम सिखाये जाते थे। १३९८ में तैमूर ने दिल्ली पर हमला किया जिससे जब सब-कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो गया

तब स्वभावत शिक्षा की प्रगति भी रुक गई। तुगलक वंश के बाद सैयद-वंश (१४१४-१४५१) आया। सय्यदों ने बदायूं को शिक्षा का केन्द्र बनाया। सय्यद लोग शक्तिहीन और निकम्मे थे, वे कुछ न कर सके और दिल्ली राज्य का पतन होने लगा। इस समय भिन्न भिन्न प्रान्तों के शासक स्वतन्त्र होने लगे परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्त करने के साथ साथ उन्होंने शिक्षा का भी उत्तम प्रबन्ध किया। जौनपुर में इब्राहीम शर्की ने अनेक मदरसे स्थापित किये, इन्हें जागीरें लगा दी गईं, सफल विद्यार्थियों को इनाम मिलने, जागीरें दी जाने लगीं। उस समय जौनपुर भारत की मुसलमानी शिक्षा का केन्द्र बन गया। बीजापुर, गोलकुंडा आदि सभी स्थानों पर शिक्षा को प्रोत्साहन मिलने लगा। बीजापुर का पुस्तकालय एक विशाल रूप धारण कर गया। औरंगजेब जब बीजापुर गया तो वहाँ से गाड़ियाँ भर कर पुस्तकें लाया। सय्यद वंश के बाद लोदी वंश (१४५१-१५२६) आया। सिकन्दर लोदी ने आगरा को शिक्षा का केन्द्र बनाया। उसने अपनी सेना के सिपाहियों को शिक्षा देने के लिए अनेक मदरसे खोले। उसकी साहित्यिक गोष्ठी में १७ विद्वान् थे। वह स्वयं कवि तथा साहित्य प्रेमी था। उसी के समय 'तिब्ब ए सिकन्दरी' का निर्माण हुआ, जो चिकित्सा का ग्रन्थ था। यद्यपि मुसलमानों की धर्म-पुस्तक कुरान होने से धार्मिक भाषा 'अरबी' थी, तो भी राजदरबारों में फारसी बोली जाती थी। सिकन्दर लोदी के समय हिन्दुओं ने फारसी पढ़ना शुरू किया। इस प्रकार हिन्दुओं तथा मुसलमानों के सम्पर्क से एक नवीन भाषा का निर्माण हुआ जो फारसी लिपि में लिखी जाती थी, जिसमें अरबी, फारसी के शब्द थे, परन्तु जो हिन्दुओं की बोलचाल की भाषा के व्याकरण से प्रभावित होकर नवीन रूप धारण कर गई। इस भाषा का नाम 'उर्दू' रखा गया। 'उर्दू' का अर्थ है—'कैम्प'। क्योंकि 'कैम्प' में सर्व-

साधारण जनता से टूटी-फूटी भाषा में बातचीत हो सकती थी अतः इस भाषा को 'कैम्प की भाषा'—'उर्दू'—यह नाम दिया गया।

२ - मुग़ल-काल में शिक्षा

लोदी वंश के साथ 'मुसल्मान'-काल (१२०६-१५२६) समाप्त हो गया, और बाबर ने 'मुगल'-काल' (१५२६ से १८वीं शताब्दी तक) को प्रारम्भ किया। बाबर (१५२६-१५३०) अरबी, फ़ारसी तथा तुर्की का विद्वान था, परन्तु वह देर तक न जिया। उसके पुत्र हुमायूं (१५३०-१५५६) ने दिल्ली में एक मदरसा खुलवाया। हुमायूं ने शाही पुस्तकालय को खूब बढ़ाया, फ़ारस भागते हुए उसे साथ ले गया, पुस्तकालय में ही मरा। हुमायूं के मरने के बाद उसके मकबरे के साथ एक मदरसा खोला गया। हुमायूं के बाद शेरशाह (१५४०-१५४५) दिल्ली का बादशाह हुआ। शेरशाह के बाद अकबर (१५५६-१६०५) गद्दी पर बैठा। अकबर का अर्थ-सचिव टोडरमल था। उसने नियम बना दिया कि सब हिसाब फ़ारसी में रक्खे जांय। इससे हिन्दुओं को फ़ारसी पढ़ने के लिए बाधित होना पड़ा। इस समय 'उर्दू' को और अधिक प्रोत्साहन मिला। अकबर को शिक्षा से विशेष प्रेम था। उसके शिक्षा-सम्बन्धी विचारों को पृथक लिखा जायगा। अकबर के बाद जहांगीर (१६०५-१६२७), शाहजहां (१६२७-१६५८) हुए। शाहजहाँ के बड़े लड़के दारा को हिन्दू विचार धारा से विशेष प्रेम था। उसने अनेक संस्कृत ग्रन्थों का फ़ारसी में अनुवाद किया जिनमें उपनिषदों का अनुवाद विशेष रूप से उल्लेखनीय है। शाहजहां के बाद औरङ्गजेब (१६५८-१७०७) गद्दी पर बैठा। उसने भी मुसल्मानों की उसी कट्टर नीति का अनुसरण किया। मन्दिर तोड़े, मस्जिदें बनवायीं, मस्जिदों के साथ मकतब तथा मदरसे खोले। अकबर की तरह औरङ्गजेब के भी शिक्षा के सम्बन्ध में अपने विचार

थे। उनका उल्लेख भी पृथक् किया जायगा। जैसे 'मुसलमान'-काल को तैमूर ने धक्का पहुँचाया था, वैसे 'मुगल'-काल को नादिरशाह ने हमले करके धक्का पहुँचाया और उसके बाद यहाँ की सम्पूर्ण शासन व्यवस्था के साथ साथ शिक्षा की व्यवस्था के भी अंजर पंजर ढीले पड़ गये।

३—अकबर के शिक्षा-सम्बन्धी विचार

अकबर अन्य राजाओं की भाँति न कट्टर था, न धर्मान्ध था। उसने फतहपुर सीकरी में इबादत खाना नाम का एक हॉल बनवाया था जिसमें भिन्न भिन्न धर्मों के लोग अपने विचारों को प्रकट करते थे। वह सब धर्मों के मेल से एक नवीन धर्म की स्थापना करना चाहता था। हिन्दू मुसलमानों के पारस्परिक भेद को वह पसन्द नहीं करता था, इसलिए उसने प्रयत्न किया कि हिन्दू तथा मुसलमान एक ही मदरसों में पढ़ें। इन मदरसों में उसने संस्कृत को भी पाठ्य विषयों में रखा जिसमें हिन्दू संस्कृत के साथ अरबी और फारसी पढ़ें, और मुसलमान अरबी और फारसी के साथ संस्कृत पढ़ें। शिक्षालयों को केवल कुरान पढ़ाने के मदरसों के स्थान में उसने उनका क्षेत्र विस्तृत बनाया और नीतिशास्त्र, गणित, दर्शन, कृषि, चिकित्सा, ज्योतिष—सभी विषय पढ़ाये जाने लगे। सम्पूर्ण मध्य-काल के इतिहास में अकबर का युग ही वास्तव में शिक्षा का युग कहा जा सकता है, जब कि धर्मान्धता ने शिक्षा के क्षेत्र पर से कुछ देर के लिए अपना पंजा हटा लिया था।

अकबर के मित्र तथा सचिव अबुल फजल ने 'आइन-ए-अकबरी' में उसके शिक्षा-सम्बन्धी विचारों का उल्लेख करते हुए लिखा है—"सब देशों में बालकों को सालों तक पाठशाला में वर्णमाला का ही अभ्यास करना पड़ता है। बालकों की आयु का बड़ा भाग पुस्तकें पढ़ने में नष्ट हो जाता है। बादशाह अकबर का

हुक्म है कि प्रत्येक बालक को पहले वर्णमाला के अक्षरों का लिखना सिखाना चाहिए। इस काम में दो दिन से अधिक नहीं लगने चाहियें। इसके बाद अक्षरों को जोड़ कर लिखना सिखा देना चाहिए। इसके लिए एक सप्ताह काफी है। लिखना आ जाने के बाद कुछ गद्य तथा पद्य स्मरण कराना चाहिए, परमेश्वर की कुछ प्रार्थनाएँ तथा धार्मिक वाक्य भी स्मरण कराने चाहियें। यह देखना आवश्यक है कि बालक सब स्वयं करें, अध्यापक केवल सहायता देता रहे। इस प्रकार पढ़ाया जायगा तो बालक एक महीने में या एक दिन में ही इतना पढ़ जायगा जितना आजकल वर्षों में वह नहीं पढ़ पाता। प्रत्येक बालक को नीति-शास्त्र, गणित, कृषि, ज्यामिति, ज्योतिष, राजनीति, चिकित्सा, न्याय आदि सब-कुछ पढ़ाना चाहिए। संस्कृत पढ़ने वालों को व्याकरण, न्याय दर्शन, वेदान्त तथा पतंजलि का अध्ययन कराना चाहिए। वर्तमान युग में इसकी अत्यन्त आवश्यकता है।'

हिन्दू तथा मुस्लिम पाठ्य प्रणाली में यह भेद था कि हिन्दू लिखना पहले सिखाते थे, पढ़ना पीछे; मुसलमान पढ़ना पहले सिखाते थे, लिखना पीछे। अकबर ने देखा कि हिन्दू-प्रणाली के अनुसार बालक जल्दी सीख जाता था, इसलिये उसने इस प्रणाली को अपनाने की सिफारिश की। साथ ही इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि वह अपने समय की प्रचलित शिक्षा से सन्तुष्ट नहीं था, उसे संकुचित समझता था, उसमें और विषयों का समावेश कर उसे विस्तृत करना चाहता था।

४—औरंगज़ेब के शिक्षा-सम्बन्धी विचार

अकबर के विपरीत औरंगजेब कट्टर था, उसने अनेक मन्दिर तोड़कर मस्जिदें बनवाई थीं, कुरान पढ़ाने के लिए मकतब खोले थे, परन्तु वह भी अपने समय की प्रचलित शिक्षा से सन्तुष्ट नहीं

था। औरंगज़ेब का शिक्षक मुल्लाशाह था। जब मुल्ला जी को पता चला कि औरंगज़ेब गद्दी पर अधिकार पाने में सफल हो गया है, तो वे उसे मिलने आये। तीन मास तक औरंगज़ेब उनसे नहीं मिला। जब मिला तब उसने कहा—'मुल्ला जी! आप ने मुझे क्या पढ़ाया? आप मुझे यही कहते रहे कि सारा यूरुप एक छोटा सा टापू है, जिसका पहले पुर्तगाल, फिर हालैंड और फिर इंग्लैंड के राजा शासन करते रहे। आपने भूगोल तथा इतिहास का भी मुझे अशुद्ध ज्ञान दिया। क्या आप का कर्तव्य नहीं था कि आप एक राजकुमार को शिक्षा देते हुए उसे पृथिवी की भिन्न भिन्न जातियों से परिचित कराते, उनके बलाबल का परिचय देते, वे कैसे लड़ती हैं, उन का क्या धर्म है, कैसा शासन है—सब कुछ बताते? साम्राज्यों का उदय-अस्त कैसे होता है, किन किन घटनाओं से विश्व में क्रान्तियाँ होती हैं—इन सबका ज्ञान देते? आप ने तो मुझे अपने साम्राज्य के संस्थापकों तक से परिचित नहीं कराया। राजा के लिए भिन्न भिन्न भाषाओं का ज्ञान आवश्यक है, परन्तु आपने मुझे अरबी के सिवा कुछ न सिखाया। आप को कुछ नहीं मालूम था कि राजकुमार को क्या-क्या पढ़ाना चाहिए, आप ने मेरा समय व्याकरण और शब्दों के रटने में बरबाद कर दिया। मुल्ला जी! आप मेरे सामने से चले जाओ, किसी को याद भी न रहे कि आप कौन हो, या आप का क्या हुआ?"

मध्य-काल में जो शिक्षा प्रचलित थी, उस पर औरंगज़ेब की यह टिप्पणी पर्याप्त प्रकाश डालती है।

५—'मकतब' और 'मदरसे'

हमने देखा कि मध्य युग में मुसल्मानी शिक्षा प्रणाली ने दो प्रकार की संस्थाएँ स्थापित कीं—'मकतब' तथा 'मदरसे'। 'मकतब' अरबी के 'कुतुब' शब्द से बना है, जिस का अर्थ है, 'वह स्थान

जहाँ किताबत अर्थात् लिखना सिखाया जाय'। 'मदरसे' शब्द 'दर्स' से बना है, जिसका अर्थ है, 'वह स्थान जहाँ दर्स अर्थात् पाठ पढ़ाया जाय'। 'मकतब' प्रारम्भिक शिक्षा के विद्यालय थे जहाँ छोटे बच्चे पढ़ने के लिए बैठाये जाते थे; 'मदरसे' उच्च-शिक्षा के विद्यालय थे जहाँ भूगोल, गणित, व्याकरण आदि उच्च विषयों की शिक्षा दी जाती थी। 'मकतब' में कुरान याद कराई जाती थी, पढ़ना, लिखना तथा प्रारम्भिक गणित सिखाई जाती थी; 'मदरसे' का काम 'मकतब' के बाद शुरू होता था। 'मकतब' तथा 'मदरसे' प्रायः मस्जिदों के साथ जुड़े होते थे, और मौलवी ही धर्म तथा शिक्षा की देख-रेख करता था। जिस प्रकार हिन्दू विद्याध्ययन से पूर्व 'उपनयन' संस्कार करते थे इसी प्रकार मुसलमान 'बिस्मिल्ला' करते थे। जब बालक ४ साल, ४ महीने और ४ दिन का हो जाता था तब घर के लोग इकट्ठे होते थे, इसे उत्तम वस्त्र पहनाते थे, सब के सामने लाकर बैठाते थे, कुरान के कुछ शब्द उससे बुलवाते थे, और अगर वह कुछ करने को तय्यार न होता तो उसे 'बिस्मिल्ला' बोलने को कहते थे। 'मकतब' तथा 'मदरसों' को जागीरदार लोग सहायता देते थे, इन्हें राज्य से भी मदद मिलती थी, और जब सहायता बन्द हो जाती थी, तो ये संस्थाएँ भी बन्द हो जाती थीं।

६—'पाठशाला' तथा 'टोल'

हमने देखा कि मुसलमान तथा मुग़ल काल में हिन्दुओं की संस्कृति का कोई नाम लेवा नहीं था। राज्य से संरक्षण न मिलने पर ऐसा होना ही था। जगह-जगह 'मकतब' तथा 'मदरसे' खुल गये थे। हिन्दुओं की शिक्षा को किसी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं रहा था। ऐसे समय में भी हिन्दुओं ने अपनी शिक्षा को जीवित रखा। हाँ, क्योंकि उस समय उनको सहायता करने वाला कोई नहीं रहा था, इसलिए यह

शिक्षा अत्यन्त गिरी हुई अवस्था में पहुँच गई। जैसे 'मकतब' मुसलमानों को प्राथमिक शिक्षा देते थे, वैसे 'पाठशालाएं' हिन्दुओं को प्राथमिक शिक्षा देती थीं, जैसे 'मदरसे' मुसलमानों की उच्च शिक्षा के केन्द्र थे, वैसे बंगाल में संस्कृत की उच्च शिक्षा देने के शिक्षणालय थे जिन्हें 'टोल' कहते थे। भिन्न-भिन्न तीर्थ स्थानों पर संस्कृत के आचार्य अपने घर पर विद्यार्थी रखते थे, और उन्हें दर्शन, व्याकरण आदि की उच्च शिक्षा देते थे। जैसे 'मकतब' मस्जिदों में होते थे, वैसे 'पाठशालाएं' कहीं कहीं मन्दिरों के अहातों में लगती थीं। इस प्रकार मुसलमानों के उत्तर-काल में 'मकतब'-'मदरसे'-'पाठशालाएं'-'टोल'-'मस्जिद'-'मन्दिर' शिक्षा की जोत को जगा रहे थे।

७—मध्य-युग में प्राथमिक-शिक्षा

१८१३ में जब कम्पनी-सरकार के भारत में शासन करने के चार्टर को पुनः स्वीकृति दी गई तब साथ ही यह भी निर्देश किया गया कि १ लाख रुपया भारत की शिक्षा पर व्यय किया जाय। इस सम्बन्ध में कम्पनी-सरकार ने पहले यह जानना चाहा कि शिक्षा के सम्बन्ध में वर्तमान स्थिति क्या है? इस सिलसिले में सर टामस मनरो ने मद्रास प्रान्त में, बम्बई के गवर्नर एलफिन्स्टन ने बम्बई प्रान्त में, विलियम एडम्स ने बंगाल में जांच-पड़ताल की जिसने अंग्रेजों से पहले वहाँ की शिक्षा के सम्बन्ध में निम्न ज्ञात हुआ:—

(१) मद्रास प्रान्त में १८२२ में सर टामस मनरो ने जांच शुरू की। मद्रास प्रान्त के कलेक्टरों ने अपने अपने जिलों की १८२६ में रिपोर्ट भेजी जिससे पता चला कि प्रान्त में प्राथमिक शिक्षा के १२४९८ स्कूल हैं, उनमें १८८६५० बालक शिक्षा पा रहे हैं, प्रान्त की आबादी १२,८५०,९४१ है। इसका अभिप्राय यह था कि-

१००० व्यक्तियों की आबादी के लिए १ स्कूल अवश्य था। जो बालक घर पर ही शिक्षा पा रहे थे वे इस संख्या में शामिल नहीं थे। घर पर शिक्षा पाने वालों की संख्या बहुत अधिक थी।

५ से १० वर्ष की अवस्था में बालक शिक्षा प्रारम्भ करता था। शिक्षा प्रारम्भ करते हुए वह गणेश-पूजा करता था। बालकों के ढेर पर उंगली से लिखता था, और उसका अध्ययन प्रारम्भ हो जाता था। जब पाठशाला लगती थी तब विद्यार्थी इकट्ठे होकर सरस्वती की स्तुति पाठ करते थे, और बाद को छोटी-छोटी टुकड़ियों में बट जाते थे। छोटे बालकों को बड़े बालक पढ़ाते थे, जो बड़े होते थे उन्हें अध्यापक पढ़ाते थे। इस प्रकार एक ही अध्यापक अपने शिष्यों की सहायता से सब को पढ़ा लेता था। मद्रास प्रान्त की इस 'शिष्य-पद्धति' को इंगलैंड के डा० बेल ने 'मानीटर पद्धति' का नाम दिया, और इस तरीके को अपने देश में जारी किया। इस पद्धति के अनुसार सब वर्गों की पढ़ाई भी होती रहती थी, और बड़े विद्यार्थी 'ट्रेंड-टीचर' भी बनते जाते थे, एक प्रकार से यहां 'स्कूल' 'ट्रेनिंग-स्कूलों' का भी काम देते थे। अक्षराभ्यास के लिए जमीन पर रेता बिछा दिया जाता था, उस पर उंगली से लिखा जाता था, बाद को पत्तों पर कलम से लिखना सिखाते थे, इस प्रकार मजे में सब चल जाता था। 'मॉन्टीसरी-पद्धति' में जिस प्रकार ज्ञान-इन्द्रियों को बरतने पर बल दिया जाता है, उसी प्रकार लिखने में हाथ को बरतने पर बल दिया जाता था। गिनती तथा पहाड़े एक बोलता जाता था, और रेता पर लिखता जाता था। बाकी बच्चे उसके पीछे पीछे बोलते थे, और रेता पर लिखते थे। पौने, सवैये तथा गणित के गुरों पर बहुत बल दिया जाता था। इस से व्यापारी बालकों को व्यापार में बहुत सहायता मिलती थी। आजकल इस तरफ ध्यान नहीं दिया जा रहा है जिससे बड़े-बड़े

बाबू बाजार में सौदे का हिसाब करने के लिए कलम कागज निकाल लेते हैं परन्तु दुकानदार सब जबानी बता देता है।

(२) बम्बई प्रान्त में १८२६ में वहां के गवर्नर एलफिंसटन ने जांच कराई जिसमें पता चला कि उस समय बम्बई प्रान्त में १७०५ स्कूल थे, ३५००० विद्यार्थी शिक्षा पा रहे थे, ४७ लाख की आबादी थी। विद्यालय में भर्ती होकर विद्यार्थी जमीन मिट्टी में लकड़ी की तख्ती पर लिखना सीखते थे, या अध्यापक के लिखे हुए अक्षरों पर सूखी कलम फेर कर पहले हाथ को साधते थे। मद्रास प्रान्त में जिस प्रकार की 'मानिटर पद्धति' (मानीटर सिस्टम) थी वैसे बम्बई में भी थी—विद्यार्थी विद्यार्थियों को सहायता देते थे।

(३) बङ्गाल में १८३५ में विलियम एडम्स ने जांच की। उनकी रिपोर्ट से पता चलता है कि वहां ४ करोड़ की आबादी में १ लाख स्कूल थे—प्रत्येक गाँव में १ स्कूल मौजूद था। तीन प्रकार के स्कूल थे—फारसी स्कूल, बङ्गाली स्कूल, महाजनी-स्कूल। फारसी स्कूल वे थे जिनका हम मकतब और मदरसों के रूप में वर्णन कर आये हैं। इनमें फारसी पढ़ाई जाती थी, ये कचहरी के लिए नौकर तय्यार करते थे। बङ्गाली स्कूल वे थे जिनमें पैमाइश आदि करना सिखाया जाता था, ये पटवारी तय्यार करते थे। महाजनी स्कूल वे थे जिनमें व्यापारियों के बच्चों को गणित, बही खाते आदि का काम सिखाया जाता था, ये मुनीम तय्यार करते थे।

हमने जिस शिक्षा का उल्लेख किया है वह बिना किसी राज्य की सहायता के अपने आप चल रही थी। शिक्षक लोग प्राय. ब्राह्मण, वैद्य और अधिकतर कायस्थ होते थे। क्योंकि सब महाजनी-काम सिखाने का ढंग था, कायस्थ लोग इस काम में निपुण

होते थे। शिक्षक को कुछ विशेष न मिलता था। बालक घरों से सीधा ला देते थे, उसी पर उनका गुजर होता था। त्योहारों के समय कुछ भेंट आ जाती थी। यह आश्चर्य है कि जब किसी से किसी प्रकार की सहायता नहीं मिलती थी तब भारत में प्राथमिक-शिक्षा पाये हुए व्यक्तियों की संख्या अंग्रेज़ों के शिक्षा को अपने हाथ में लेने के समय से ऊँची थी!

३०

ब्रिटिश-काल में शिक्षा

(EDUCATION IN BRITISH PERIOD)

ब्रिटिश काल में शिक्षा को मुख्यतः चार कालों में बाँटा जा सकता है, जो निम्नलिखित हैं —

१७८० से १८१३ तक का प्रथम काल
१८१३ से १८५४ तक का द्वितीय-काल
१८५४ से १९०० तक का तृतीय काल
१९०० से १९४७ तक का चतुर्थ काल

प्रथम-काल (१७८० १८१३)—

भारत में अंग्रेजी राज्य की नींव 'ईस्ट-इण्डिया-कम्पनी' ने डाली। १७८० में पार्लियामेंट ने यह निश्चय किया कि भारत में अंग्रेजी कानून के स्थान पर भारतीय कानून जारी किया जाय। भारतीय कानून केवल पंडित तथा मौलवी जानते थे, अतः यह आवश्यक हो गया कि पंडित तथा मौलवी तय्यार किये जायें। इसी उद्देश्य से १७८१ में वारेन हेस्टिंग्स ने मुसलमानों के लिए 'कलकत्ता मदरसा' और १७९१ में बनारस के रेजिडेंट जोनाथन डंकन ने हिन्दुओं के लिए 'बनारस संस्कृत कालेज' की स्थापना की। इन दो कालेजों के अतिरिक्त कम्पनी सरकार ने इस काल में भारत की शिक्षा की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया।

द्वितीय काल (१८१३-१८५४)—

१८१३ में 'ईस्ट इंडिया-कम्पनी' का भारत में व्यापार करने का 'चार्टर' (आज्ञा-पत्र) पार्लियामेंट द्वारा बदला गया। सर चार्ल्स ग्रान्ट के, जो कम्पनी के डायरेक्टरों में से थे, विशेष प्रयत्न से, आज्ञा-पत्र बदलते समय, यह धारा भी बढ़ा दी गई कि अन्य खर्चों के बाद बची हुई रकम में से १ लाख रुपया प्रति वर्ष भारतीय साहित्य के पुनरुद्धार, भारतीय विद्वानों के प्रोत्साहन तथा विज्ञानों की उन्नति के लिए लगाया जायगा। दस वर्ष तक इस रुपये का कोई उपयोग नहीं किया गया। १८२३ में एक 'कमेटी' बना दी गई, जिसने 'संस्कृत' तथा 'अरबी' में पुस्तकें छपवाना शुरू किया, और 'संस्कृत' तथा 'अरबी' को प्रोत्साहन देने के लिए 'कलकत्ता-संस्कृत-कालेज', 'आगरा-कालेज' और 'दिल्ली-कालेज' की स्थापना की। इस 'कमेटी' में यह झगड़ा उठ खड़ा हुआ कि 'संस्कृत' तथा 'अरबी' की पुस्तकें छपवाना ठीक है या नहीं, इसमें धन का दुरुपयोग तो नहीं हो रहा। साथ ही इस कमेटी में यह भी प्रश्न खड़ा हो गया कि 'प्राथमिक-शिक्षा' (Primary education) का काम किया जाय, या नहीं? 'प्राथमिक-शिक्षा' के विषय में तो 'कमेटी' ने निश्चय किया कि इस काम में अभी हाथ डालने की आवश्यकता नहीं। ज्यों-ज्यों उच्च शिक्षा का प्रचार होता जायगा, त्यों-त्यों उच्च शिक्षा प्राप्त किये हुए व्यक्ति अन्यों को शिक्षा देने का कार्य स्वयं करते रहेंगे, उनमें यह नीचे को मानो छनती रहेगी। इसे 'शिक्षा के छनने का सिद्धान्त' (Filteration theory) कहा जाने लगा। अन्य देशों में तो 'प्राथमिक-शिक्षा' पहले दी जाती है, 'उच्च-शिक्षा' का प्रबन्ध बाद को होता है, भारत के विदेशी शासकों को कुछ थोड़े पढ़े लिखे व्यक्तियों की आवश्यकता थी, जो उन्हें शासन में

मदद दे सकें, इसलिए यहाँ उल्टी गंगा बही। 'उच्च शिक्षा' का प्रबन्ध किया गया, 'प्राथमिक-शिक्षा' को हाथ ही नहीं लगाया गया। 'संस्कृत' तथा 'अरबी' के ग्रन्थ छपवाने के विषय में 'कमेटी' कुछ तय नहीं कर पायी। दो दल बने रहे, एक दल 'संस्कृत' तथा 'अरबी' का पक्षपाती था, दूसरा 'अंग्रेजी' शिक्षा देने का पक्षपाती था। यह झगड़ा चल ही रहा था कि १८३४ में लार्ड मैकाले गवर्नर-जनरल लार्ड बैंटिक की कार्य-कारिणी समिति के सदस्य बनकर आये, और २ फरवरी १८३५ को उन्होंने अपनी रिपोर्ट लिखकर इस झगड़े का निपटारा कर दिया। लार्ड मैकाले ने लिखा कि हमें ऐसे व्यक्ति उत्पन्न करने हैं जो शरीर से भारतीय हों, परन्तु रहन-सहन, वेष भूषा, बोल चाल, विचार आदि में अंग्रेज हों, तभी हमारा राज्य चल सकता है। उन्होंने यह भी लिखा कि भारतीय साहित्य का संपूर्ण भंडार एक तरफ रख दिया जाय, उसका पाश्चात्य-ग्रन्थों की एक अलमारी में पड़ी पुस्तकों के समान भी मूल्य नहीं। इस प्रकार अंग्रेजी की नींव डाल दी गई, और आज शिक्षा के क्षेत्र में जो स्थिति दिखाई देती है उसका सूत्रपात हुआ। १८३७ में अंग्रेजी को न्यायालयों की भाषा बना दिया गया; १८४४ में लॉर्ड हार्डिंज ने यह तय कर दिया कि उच्च नौकरियाँ अंग्रेजी पढ़े लिखों को मिलेंगी। इन दोनों बातों का प्रभाव भी अंग्रेजी को बढ़ावा देने में सहायक हुआ। इस सारे समय में 'प्राथमिक शिक्षा'—'विश्व-विद्यालय शिक्षा'—'स्त्री शिक्षा' की तरफ किसी का ध्यान नहीं गया, भारतीयों को अंग्रेजी शिक्षा द्वारा अंग्रेज बनाने पर ही शिक्षा की सारी मशीनरी जुटी रही।

तृतीय काल (१८५४-१६००)—

१८५३ में फिर 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' का 'चार्टर' (आज्ञा पत्र)

पार्लियामेंट द्वारा बदला गया। इस समय कम्पनी के 'बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल' के मुखिया सर चार्ल्स वुड थे। उन्होंने १८५४ में 'वुड डिसपैच' (Wood-Dispatch) लिखी जो भारतीय शिक्षा का 'अधिकार पत्र' (मैग्ना चार्टा) कहलाता है। इस अधिकार पत्र के अनुसार, (१) प्रत्येक प्रान्त में 'डिपार्टमेन्ट ऑफ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन' की स्थापना की गई, (२) कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में 'यूनीवर्सिटियों' की स्थापना का प्रबन्ध किया गया, और (३) प्राथमिक तथा अन्य शिक्षा संस्थाओं को सरकारी-सहायता (ग्रान्ट) देना स्वीकार किया गया।

१८८२ में 'हन्टर कमीशन' (Hunter Commission) की नियुक्ति हुई। इस कमीशन ने सिफारिश की कि (१) प्राथमिक-शिक्षा की तरफ सरकार का पहले की अपेक्षा अधिक ध्यान देना चाहिए। अब तक प्राथमिक शिक्षा की तरफ सरकार का खास ध्यान नहीं गया। (२) प्रत्येक म्यूनिसिपैलिटी तथा जिला बोर्ड में 'स्कूल-बोर्डों' की स्थापना करनी चाहिए जो अपने इलाके के प्राथमिक स्कूलों की शिक्षा का सञ्चालन करें। (३) माध्यमिक-शिक्षा के सञ्चालन का काम अधिकतर जनता के सहयोग पर, स्थानिक प्रबन्धक-कमेटियों की सहायता पहुँचा कर करना चाहिये। इसका सारा बोझ सरकार को अपने ऊपर नहीं लेना चाहिये। (४) अब तक स्कूलों में सिर्फ किताबी शिक्षा दी जा रही है, व्यावसायिक शिक्षा देने का भी प्रबन्ध होना चाहिये।

चतुर्थ-काल (१६०० — १६६०)—

१६०० से १६वीं शताब्दी समाप्त होती है, और बीसवीं शताब्दी प्रारम्भ होती है। १६०० से १६४७ तक के समय को दो भागों में बाँटा जा सकता है। १६०१ से १६१६ तक का समय, तथा १६२० से १६४७ तक का समय। इस समय को दो भागों में बाँटने का

कारण यह है कि १९१९ में भारत को मौन्ट-फोर्ड सुधारों के अनुसार शासन में कुछ कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई थी। १९४७ में तो भारत बिलकुल ही स्वतन्त्र हो गया।

१९०१ से १९११ तक का समय—

१९०१ में लार्ड कर्जन ने शिमला में वायसराय की हैसियत से 'शिक्षा-परिषद्' की स्थापना की और १९०४ में 'भारतीय सरकार की शिक्षा संबन्धी नीति के प्रस्ताव' (Resolution on Indian Educational Policy) घोषित किये। इस नीति के अनुसार, (१) यह निश्चय किया गया कि प्राथमिक, माध्यमिक तथा कालेज की शिक्षा के निजी तौर पर विस्तार में जनता को सहायता द्वारा प्रोत्साहित किया जाय, सरकार नमूने के तौर पर अपने कुछ सरकारी शिक्षणालय रखे, परन्तु शिक्षा का अधिक काम जनता के सहयोग से कराये, जनता द्वारा सञ्चालित शिक्षणालयों पर अपना निरीक्षण रखे, (२) प्राथमिक शिक्षणालयों पर पहले की अपेक्षा अधिक व्यय किया जाय, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड प्राथमिक शिक्षा पर जो व्यय करे वह प्रान्त की आमदनी में से सबसे पहले दिया जाय, (३) माध्यमिक शिक्षणालयों में जहां तक हो सके मातृभाषा को माध्यम बनाया जाय, (४) स्त्री शिक्षा को सुव्यवस्थित करने के लिए लड़कियों के प्राथमिक स्कूल खोले जांय, उन्हें ग्रैंट दिया जाय, और स्त्री-अध्यापिकाएं नियत की जांय।

१९ मार्च १९१० में श्रीयुत गोखले ने कौंसिल सभा में प्राथमिक शिक्षा को 'निःशुल्क तथा अनिवार्य' बनाने के लिए प्रस्ताव पेश किया जो १३ पक्ष तथा ३८ विपक्ष में होने के कारण गिर गया। इसके एक साल बाद जार्ज पंचम तथा क्वीन मेरी भारत में आये और उन्होंने प्रति वर्ष शिक्षा पर ५० लाख सरकारी सहायता की घोषणा की।

गोखले का प्रस्ताव तो गिर गया परन्तु सरकार का ध्यान शिक्षा के प्रश्न की तरफ गये बिना न रहा। इधर जार्ज पंचम की ५० लाख की घोषणा से भी शिक्षा के प्रश्न ने विशेष महत्व प्राप्त कर लिया। परिणाम स्वरूप २१ फर्वरी १९१३ को भारतीय सरकार ने एक प्रस्ताव स्वीकार किया जिसके अनुसार, (१) यह निश्चय किया गया कि डिस्ट्रिक्ट-बोर्डों को प्राथमिक शिक्षा के विस्तार के लिए अपने स्कूल खोलने चाहियें, प्राइवेट स्कूलों पर भरोसा रख कर नहीं बैठ रहना चाहिए, (२) यह स्वीकार किया गया कि स्त्री शिक्षा का लगभग बिल्कुल प्रचार नहीं हो रहा, लड़कियों के लिये लड़कों की-सी पाठविधि बना देना बेकार है, उनकी अलग पाठविधि होनी चाहिए, (३) यह भी स्वीकार किया गया कि अब तक माध्यमिक-शिक्षा का काम जनता के निज परिश्रम पर ही छोड़ दिया गया है, परन्तु यह ठीक नहीं है। जनता को माध्यमिक-शिक्षा के विस्तार में सहायता देने के साथ साथ सरकार को भी अपनी जिम्मेवारी पूरी करनी चाहिए, (४) यह भी कहा गया कि युनिवर्सिटियों की संख्या अब तक कुल पांच है, जो इतने बड़े देश के लिए बहुत थोड़ी है, इन्हें बढ़ाया जाय।

१९१३ के इस प्रस्ताव के होने के बाद १९१४ में प्रथम विश्व युद्ध आरंभ हो गया। १९१७ में 'सैडलर कमीशन' की नियुक्ति हुई जिसने १९१९ में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की।

१९२० से १९४७ तक का समय—

१९१८ में विश्वव्यापी प्रथम-युद्ध समाप्त हुआ परन्तु वातावरण एकदम विक्षुब्ध हो गया। १९१९ में मॉन्ट फोर्ड सुधार प्रकाशित किये गये, परन्तु जनता में उनसे एकदम असन्तोष उत्पन्न हो गया। असहयोग आन्दोलन ने देश को एक सिरे से दूसरे सिरे तक हिला दिया, स्कूलों-कालेजों का बहिष्कार शुरू हो गया।

१९२७ में वायु मंडल कुछ शान्त हुआ, लड़के फिर से स्कूलों में जाने लगे। असहयोग आन्दोलन के फल स्वरूप मई १९२८ में 'साइमन कमीशन' की नियुक्ति हुई, जिसने शिक्षा सम्बन्धी प्रश्न पर विचार करने के लिए एक उप समिति का निर्माण किया। इसका नाम 'हारटोग कमेटी' (Hartog Committee) था। 'हारटोग कमेटी' ने १९२९ में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की। इसने सिफारिश की कि, (१) हमें प्राथमिक-शिक्षा पर पहले से अधिक ध्यान देना चाहिए। अब तक उच्च शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया जाता रहा है, प्राथमिक शिक्षा पर कम। परिणाम यह हुआ है कि देश की अधिकांश जनता अभी तक अशिक्षित है। 'कमेटी' ने लिखा कि १९२२-२३ में जो बालक प्रथम श्रेणी में भर्ती हुए उनमें से १९२५-२६ में केवल १९ प्रतिशत चौथी श्रेणी में शिक्षा पा रहे थे। जो बालक पाठशाला में एक-दो बरस ही पढ़ते हैं उनका पढ़ना न-पढ़ना बराबर है क्योंकि वे कुछ देर बाद सब कुछ भूल कर फिर वैसे के वैसे कोरे हो जाते हैं। इस प्रकार बालकों के 'समय' तथा पाठशाला के 'धन' का अपव्यय होता है, इसलिए 'प्राथमिक-शिक्षा' का काल कम-से-कम ४ वर्ष अवश्य रखना चाहिए। कमेटी ने यह भी कहा कि, (२) माध्यमिक शिक्षा का संचालन प्रायः इसलिए हो रहा है कि जो पढ़ते हैं सबको 'युनीवर्सिटी' में भर्ती होना है। इस भावना को हटाने की आवश्यकता है। इसका उपाय यही है कि स्कूल में ही भिन्न भिन्न प्रकार की पाठविधि हो। जो बालक व्यापार अथवा यन्त्र-विद्या की तरफ जाना चाहें वे युनीवर्सिटी जाने से पहले ही अपने मार्ग को निश्चित कर सकें। शिक्षा को केन्द्रित करने के विषय में कमेटी ने कहा कि, (३) भिन्न-भिन्न प्रान्तों की शिक्षा की गति-विधि को एक सूत्र में बाँधने के लिए दिल्ली में एक कमेटी होनी चाहिए जो सबको एक दिशा में चला

सके। यद्यपि १६२१ में 'सेंट्रल एडवाइजरी बोर्ड ऑफ एजूकेशन' बन चुका था तो भी वह अब तक समाप्त भी कर दिया गया था। 'हारटोग कमेटी' की सिफारिश के आधार पर १६३५ में इसे दिल्ली में फिर से जीवित किया गया। इस समय केन्द्रीय सरकार के आधीन यह बोर्ड काम कर रहा है।

'हारटोग कमेटी' के बाद १६३५ में 'एबट एण्ड वुड रिपोर्ट', १६३६-३८ में 'आबिद हुसैन-कमिटी रिपोर्ट' अथवा 'वर्धा-योजना' १६३६ में यू० पी० में 'नरेन्द्र देव कमिटि रिपोर्ट' तथा १६४४ में 'सेंट्रल एडवाइजरी बोर्ड ऑफ एजूकेशन' की तरफ से 'सार्जेंट रिपोर्ट' निकल चुकी हैं। इनमें भी प्राथमिक, माध्यमिक तथा युनिवर्सिटी की शिक्षा पर अपने-अपने विचार प्रकट किये गये हैं। शिक्षा पर विस्तृत दृष्टि रखने के लिए इन सबका विद्यार्थी को स्वयं अध्ययन करना चाहिए। १६४७ में तो स्वराज्य ही मिल गया, अतः तबसे शिक्षा की दिशा का संचालन विदेशियों की तरफ से न होकर शुद्ध भारतीय दृष्टि-कोण से होने लगा है। इस समय शिक्षा के साथ श्रम करना विद्यार्थियों के लिए आवश्यक समझा जा रहा है क्योंकि हमारी शिक्षा युवक वृन्द निठल्ले-शिक्षित ही हो गई है, श्रम करने, अर्थात् अपना धन अपने आप कमाने से हमारे युवक घबराते हैं। इन सब परिवर्तनों के लिए अभी २८ जनवरी १६५२ को लखनऊ में भिन्न भिन्न विश्वविद्यालयों के उप कुलपतियों की राज्यपाल श्री कन्हैयालाल मुन्शी के नेतृत्व में बैठक हुई है। ये सब परिवर्तन हो रहे हैं, परन्तु अभी स्वराज्य प्राप्त किये हमें बहुत कम समय हुआ है, इसलिए अभी बिल्कुल आमूल-चूल परिवर्तन करने का शासन-सूत्र के संचालकों को समय नहीं मिला। आशा है, नवीन युग में, नवीन दृष्टि कोण से भारत ... के क्षेत्र में भी अपनी नवीन दिशा का निर्माण करेगा।

३१

शिक्षा का वर्तमान संगठन

(PRESENT ORGANISATION OF EDUCATION)

वर्तमान शिक्षा पर विचार करने के लिए हम उसे निम्न भागों में बाँट सकते हैं —

१—प्राथमिक शिक्षा (Primary Education)

२—माध्यमिक-शिक्षा (Secondary Education)

३—विश्व विद्यालय की शिक्षा (University Education)

४—प्रौढ़ शिक्षा अथवा सामाजिक शिक्षा (Adult Education or Social service Education)

५—स्त्री शिक्षा (Women's Education)

६—व्यावसायिक-शिक्षा (Professional Education)

७—औद्योगिक-शिक्षा (Technical Education)

१—प्राथमिक शिक्षा (Primary Education)

मैक्स मूलर के अनुसार अंग्रेजों के आने से पूर्व केवल बंगाल में ही ८० हजार मकतब, मदरसे और पाठशालाएं थीं, अर्थात् ४०० व्यक्तियों के पीछे एक स्कूल था। उस समय प्रायः प्रत्येक व्यक्ति पढ़-लिख सकता था। अंग्रेजों ने भारत आने पर शिक्षा की तरफ बिलकुल ध्यान नहीं दिया। पादरी लोग शिक्षा देने लगे थे, परन्तु अंग्रेज राजनीतिज्ञों का कथन था कि जैसे शिक्षा देने से

अमरीकन उपनिवेश अमरीका के हाथ से निकल गये, वैसे भारत भी हमारे हाथ से निकल जाएगा'। १८१३ में भारत में शिक्षा पर व्यय करने के लिए एक लाख की राशि निश्चित की गई, परन्तु 'प्रारम्भिक-शिक्षा' के सम्बन्ध में यही कहा गया कि उच्चशिक्षा प्राप्त करने पर अपने-आप यह ऊपर से नीचे को छनेगी, इसे 'शिक्षा के छनने का सिद्धान्त' (Filteration Theory) कहा जाने लगा। मैकाले भी इसी विचार का पृष्ठ-पोषक था। १८५४ की 'वुड-रिपोर्ट' में पहले पहल यह स्वीकार किया गया कि प्राथमिक शिक्षा देना भी राज्य का काम है, और इसके लिए ग्रान्ट दी जानी चाहिए, परन्तु क्रियात्मक रूप में कुछ नहीं किया गया। १८८२ में 'हन्टर कमीशन' ने पहली बार स्पष्ट घोषणा की कि अब तक जिस गति से सरकार की तरफ से प्राथमिक शिक्षा का कार्य किया जा रहा है वह असन्तोष-जनक है, उसे अधिक वेग से करने की आवश्यकता है। म्युनिसिपल तथा डिस्ट्रिक्ट-बोर्डों को आदेश दिया गया कि स्कूलों के लिए एक विशेष निधि को अलग से रखें जिसमें से एक निश्चित मात्रा 'प्राथमिक शिक्षा' पर सहायता के रूप में व्यय करें। साथ ही यह भी कहा गया कि सहायता उत्तीर्ण विद्यार्थियों की संख्या के आधार पर दी जानी चाहिए। इस आदेश का भी 'प्राथमिक-शिक्षा' के विस्तार पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब सम्पूर्ण मानव समाज 'प्राथमिक-शिक्षा' के विस्तार में जुटा हुआ था, तब भारत की गाड़ी कछुए की चाल से ही चल रही थी। १९०४ में लार्ड कर्जन ने भारतीय शिक्षा की नीति की घोषणा की जिसमें खुले तौर से स्वीकार किया गया कि 'प्राथमिक शिक्षा' का सञ्चालन सरकार के मुख्य कर्तव्यों में से एक है। १९१० में श्रीयुत गोखले ने 'प्राथमिक शिक्षा' को 'निःशुल्क' तथा 'अनिवार्य'

बनाने के लिए शासिका सभा में प्रस्ताव रखा। १६११ में उन्होंने इसी आशय का एक बिल पेश किया जो १३ के विरुद्ध ३१ मत से गिर गया। सरकार 'प्राथमिक शिक्षा' का बोझ अपने ऊपर लेने के स्थान में जिला बोर्डों के कन्धों पर ही यह बोझ डालती रही। इस बीच १६१४ १८ में प्रथम विश्व युद्ध प्रारम्भ हो गया, और १६१६ में मौंट फोर्ड सुधार जारी किये गये। १६१८ २० में भिन्न भिन्न प्रान्तों की सरकारों ने 'प्राइमरी एज्यूकेशन एक्ट' पास किये जिनके द्वारा ६ से १० वर्ष की आयु तक 'प्राथमिक शिक्षा' को 'निःशुल्क तथा अनिवार्य' बनाने का अधिकार म्युनिसिपैलिटियों और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों को देकर जनता के हाथ में दे दिया गया।

'प्राथमिक शिक्षा' के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न हैं जिनका हल किया जाना आवश्यक है। सब से मुख्य प्रश्न तो यह है कि [illegible] समय जो लड़के पढ़ना शुरु करते हैं, एक दो साल में ही वे स्कूल छोड़ देते हैं, वे इतना थोड़ा पढ़ पाते हैं कि कुछ ही दिनों में वे वे पढ़े-से हो जाते हैं। शिक्षा की मशीन का यह 'अपव्यय' कैसे रोका जाय? इस 'अपव्यय' को नहीं रोका जाता तो नये विद्यालय खोलना न खोलना बराबर है। इसे रोकने के लिए 'प्राथमिक शिक्षा' का अनिवार्य किया जाना आवश्यक है। हर बालक को ६ से १० वर्ष की अवस्था तक पढ़ाना ही होगा। १६२६ में 'हार्टोग' कमेटी ने यही विचार प्रकट किये। १६३८ में महात्मा गांधी की प्रेरणा से 'ज़ाकिर हुसैन कमेटी' ने ७ से १४ वर्ष तक की अवस्था के लिए निःशुल्क तथा अनिवार्य 'प्राथमिक शिक्षा' की योजना तय्यार की। 'ज़ाकिर हुसैन-कमेटी' पर पुनः विचार करने के लिए बम्बई के तत्कालीन प्रधान मन्त्री श्री खेर की अध्यक्षता में एक कमेटी बनी जिसने ७ से १४ के स्थान में ६ से १४ वर्ष तक 'निःशुल्क तथा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा' देने के विचार का

समर्थन किया। १६४४ में 'सार्जेंट रिपोर्ट' प्रकाशित हुई जिसने ३ से ६, ६ से ११, ११ से १४ वर्ष—इस प्रकार 'शिक्षा' को तीन भागों में बाट कर 'प्राथमिक शिक्षा' का नवीन संगठन करने का प्रयत्न किया गया। अब तो शासन सूत्र अपने हाथ में है। 'प्राथमिक शिक्षा' का भारत की सम्पूर्ण जनता पर १०–१२ साल के बाद बड़ा भारी प्रभाव पड़ने वाला है। इस सत्र को सोच कर शासन से शीघ्र इसकी तरफ क्रियात्मक ध्यान देने की आवश्यकता है, क्यों कि प्रस्ताव तो पहले भी बहुत होते रहे हैं, और हो चुके हैं।

२— माध्यमिक शिक्षा (Secondary Education)

अंग्रेजों की भारत को शिक्षा के क्षेत्र में एक ही देन है, और वह है 'माध्यमिक शिक्षा'। मैकाले के अपनी रिपोर्ट लिखने के पहले से यहाँ ईसाई पादरियों ने हाई स्कूल खोले हुए थे। पादरी लोग जिस लगन से काम कर रहे थे, और उनके कार्य से भारतीयों में जो परिवर्तन आ रहा था, उससे प्रभावित होकर सर चार्ल्स ग्रान्ट के हृदय में यह विचार उत्पन्न हुआ कि भारतीयों को शिक्षित करना आवश्यक है। यह पहले कम्पनी की नौकरी कर चुके थे, फिर पार्लियामेंट के सदस्य बने, और कम्पनी के डायरेक्टरों के बोर्ड के चेयरमैन बने। १८१३ में जब कम्पनी को दुबारा आज्ञा पत्र दिया गया तब इन्होंने १ लाख रुपया प्रति-वर्ष शिक्षा पर व्यय करने की शर्त भी स्वीकृत करा ली। उसमें लिखा गया कि 'विद्या के पुनरुज्जीवन' (Revival of Learning) तथा 'विज्ञान की वृद्धि' (Promotion of Scientific Knowledge) के लिए १ लाख रुपये का व्यय किया जाय। पहले तो यही झगड़ा चलता रहा कि 'किस' विद्या का पुनरुज्जीवन किया जाय—संस्कृत तथा अरबी का, या अंग्रेजी का? बहुत देर तक युद्ध खत्म न हुआ। अनेक भारतीय यही चाहते थे कि अंग्रेजी शिक्षा दी जाय।

राजा राममोहन राय ने तो इस आशय का गवर्नर-जनरल को एक *आवेदन-पत्र भी दिया।* १८१७ में राजा राममोहन राय ने डेविड हेयर नामक एक घड़ियों के व्यापारी के सहयोग से 'हिन्दू कालेज' की स्थापना की जिसमें अंग्रेजी पढ़ाई जाने लगी। १८३५ में मैकाले ने अपनी रिपोर्ट लिख कर अंग्रेजी शिक्षा की जड़ें पाताल तक पहुँचा दीं। मैकाले से पहले भी अंग्रेजी ढंग के स्कूलों की ही माग थी, मैकाले ने उसी बात पर मोहर लगा दी। अंग्रेजी पढ़ कर ही जब नौकरी मिलती थी, तब और कुछ कोई क्यों पढ़ता। आज जैसे नौकरी के लिए हमारे बालक टाइप करना सीखते हैं, वैसे उस समय आजीविका के प्रश्न को हल करने के लिए स्कूल में भर्ती होते थे, अंग्रेजी सीखते थे। १८३७ में न्यायालयों की भाषा भी अंग्रेजी ही कर दी गई, १८४४ में लार्ड हार्डिज ने घोषणा कर दी कि अंग्रेजी स्कूलों में पढ़े लड़कों को नौकरियों में प्रधानता दी जाये। इस सारी नीति का परिणाम यह हुआ कि 'माध्यमिक-स्कूल' धड़ाधड़ खुलने लगे। शिक्षा के लिए जितना रुपया स्वीकृत होता था उसमें 'प्राथमिक-शिक्षा' पर कुछ व्यय नहीं होता था, 'माध्यमिक' पर ही सब व्यय हो जाता था।

हंटर कमीशन (१८८२) ने इस स्थिति को समझा। उन्होंने सिफारिश की कि सरकार को अपनी शक्ति 'माध्यमिक शिक्षा' से हटा लेनी चाहिए, यह काम प्राइवेट संस्थाओं के सुपुर्द कर देना चाहिए, उन्हें सहायता-मात्र दे देना चाहिए। इसका परिणाम तो यह होना चाहिए था कि 'माध्यमिक-शिक्षा' से बचे रुपये को सरकार 'प्राथमिक शिक्षा' पर खर्च करती। वैसा कुछ तो सरकार ने किया नहीं, इधर मैट्रिक की तय्यारी करानेवाले स्कूलों की भरमार हो गई, स्कूल चलाना भी एक व्यापार सा हो गया। मैट्रिक पास की, बी० ए० किया, और कोई न कोई नौकरी

हाथ लगी, फिर क्यों न स्कूलों की संख्या बढ़ती। जब स्कूल जरूरत से ज्यादा बढ़ गये, तब इतने मैट्रिक पास व्यक्तियों को नौकरियों की भी तंगी होने लगी। इसके अतिरिक्त मैट्रिक पास से बी० ए० का महत्व अधिक था, इसलिये कालेजों में बाढ़-सी आ गई। लड़का पढ़ सकता है या नहीं, इसकी पर्वाह नहीं थी, किसी तरह भी इम्तिहान पास करके नौकरी का विचार बालकों को आगे-ही-आगे ले जाता था। युनिवर्सिटियों में ऐसे लड़कों की भरमार हो रही थी जो घोट-घाटकर मैट्रिक तो पास कर आते थे, परन्तु प्रोफेसर का व्याख्यान नहीं समझ सकते थे। १९०४ और १९१३ में 'भारतीय शिक्षा की नीति' की घोषणा की गई जिसमें स्वीकार किया गया कि स्कूल की पढ़ाई निरुद्देश्य चल रही है, लड़कों के सन्मुख मैट्रिक पास करके युनिवर्सिटी में भर्ती होने के सिवाय कोई उद्देश्य नहीं होता। इनके परिणाम स्वरूप एस० एल० सी० की परीक्षा रखी गई जिसका उद्देश्य यह था कि बालक मैट्रिक का इम्तिहान दिये बगैर अगर किसी धन्धे में जाना चाहता है तो इस परीक्षा को देकर जा सके। १९२९ में 'हार्टोग कमेटी' और १९३७ में 'एबट तथा वुड' रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिनमें कहा गया कि स्कूल में ही विषयों का ऐसा विभाग हो जाना चाहिए-जिससे बालक अपनी रुचि के अनुसार ऐसे विषयों को चुन सके जो उसे जीवन में सहायक हों। प्रत्येक बालक 'युनिवर्सिटी' की शिक्षा के योग्य नहीं होता। अब तक तो पढ़ाई का ऐसा रूप था कि स्कूल में विद्यार्थी अपने को युनिवर्सिटी में भर्ती होने के लिए तय्यार करता था। मैट्रिक पास हो गया तब तो वह 'युनिवर्सिटी' में भर्ती हो गया, उसका भविष्य उज्ज्वल हो गया, नहीं तो सारी पढ़ाई पर पानी फिर गया। १९४६ में 'सैंट्रल एडवाइजरी बोर्ड' ने 'नरेन्द्रदेव कमेटी' तथा

'सार्जेन्ट रिपोर्ट' पर पुनः विचारकर यह निश्चय किया कि स्कूल की 'माध्यमिक' शिक्षा अपने में पूर्ण होनी चाहिए, उसमें पढ़े हुए विद्यार्थी 'युनिवर्सिटी' में तो जाने ही चाहिए, परन्तु पाठ-विधि ऐसी होनी चाहिए जिससे जो बीच में छोड़ना चाहे तो छोड़कर किसी उद्योग धन्धे में भी लग सके। इस विचार को सम्मुख रखकर १९४८ से युक्तप्रान्त में आठवीं श्रेणी के बाद ९वीं से १२वीं श्रेणी तक साहित्यिक, रचनात्मक, वैज्ञानिक तथा कलात्मक पाठविधियों का चलन किया गया है। परन्तु अब भी हमारी पाठ्य प्रणाली बहुत कुछ किताबी ही चली आ रही है, इसमें किताबी-पन, परीक्षा, रटना आदि को कम करके क्रियात्मकता, रुचि अनुकूलता आदि लाने की आवश्यकता है।

३.— विश्व विद्यालय (University)

१८३५ में मैकाले ने लिखा था कि इस समय हमें ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता है जो शासकों तथा शासितों में दुभाषिये का काम कर सकें। ऐसे ही व्यक्ति पैदा करने में शिक्षा का सम्पूर्ण संगठन लगा हुआ था। १८५७ से पहले स्कूल और कालेज यह काम कर रहे थे, १८५७ में 'युनीवर्सिटी एक्ट' पास किया गया जिसके अनुसार कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास के विश्व विद्यालयों की स्थापना की गई और उन्होंने मैकाले का कार्य शुरू कर दिया। पंजाब विश्व विद्यालय १८८२ में, इलाहाबाद १८८७ में, बनारस तथा मैसूर १९१६ में, पटना १९१७ में, उस्मानिया १९१८ में, अलीगढ़ तथा लखनऊ १९२० में, ढाका १९२१ में, दिल्ली १९२२ में, नागपुर १९२३ में, आन्ध्र १९२६ में, आगरा १९२७ में, अन्नामलाई १९२९ में, ट्रावनकोर १९३७ में, और उत्कल १९४३ में स्थापित हुई। राजपूताना, महाराष्ट्र, आसाम में विश्व विद्यालय स्थापित करने के प्रयत्न हो रहे हैं जिनमें राजपूताना अब बन चुका है।

प्रारम्भ में विश्व विद्यालयों का काम परीक्षा लेना तथा भिन्न भिन्न कालेजों को अपने साथ सम्बन्धित करना था। धीरे धीरे इस बात को अनुभव किया जाने लगा कि केवल परीक्षा लेने वाली संस्था पढ़ाने-लिखाने के क्रियात्मक क्षेत्र से सर्वथा अलग रहती है, अतः वास्तविकता से दूर रहती है। इस तथा अन्य दोषों को दूर करने के लिए १९०४ में 'इण्डियन यूनीवर्सिटी ऐक्ट' पास किया गया जिसमें यह निश्चय किया गया कि विश्व विद्यालयों का काम केवल परीक्षा लेना ही न होगा, वे पढ़ाने लिखाने का भी काम करेंगे, अपने लेक्चरार, प्रोफ़ेसर रखेंगे, अपने पुस्तकालय तथा परीक्षण शालाएँ बनायेंगे। अब तक सीनेट के सदस्यों की संख्या निश्चित न थी, वे जन्म-भर सदस्य रह सकते थे, सब सरकारी आदमी होते थे। इस एक्ट के अनुसार संख्या निश्चित कर दी गई, और सदस्यता का समय ५ वर्ष कर दिया गया। सिण्डीकेट के सदस्यों को अब तक कोई वैधानिक अधिकार न था, उन्हें भी वैधानिक अधिकार दे दिया गया। अब तक विश्व विद्यालय अपने आधीन कालेजों का निरीक्षण भी नहीं कर सकते थे, इस ऐक्ट के अनुसार उन्हें निरीक्षण का अधिकार भी दिया गया।

१९१७ में भारत सरकार ने 'कलकत्ता युनीवर्सिटी कमीशन' नियुक्त किया, इसका नाम 'सैडलर कमीशन' भी था। 'सैडलर कमीशन' ने अनेक सिफ़ारिशें कीं जिनमें से मुख्य यह थी कि इस समय युनीवर्सिटी के ११-१२ वीं के छात्रों की योग्यता स्कूल के विद्यार्थियों की-सी होती है, अतः ये कहने को युनीवर्सिटी की कक्षाएँ हैं, परन्तु वास्तव में स्कूल की ही हैं। इस उद्देश्य से उन्होंने सिफ़ारिश की कि इन दोनों को अलग करके 'इन्टर-मीडियेट' कालेजों को युनीवर्सिटी से अलग स्थापित किया जाय। 'युनिवर्सिटियों' पर जो अनावश्यक भार पड़ता है वह भी इससे

कम हो जायगा, और वे अपना काम करने में स्वतन्त्र हो जायँगी। मेट्रिक तथा इन्टरमीजियेट की पाठविधि बनाने तथा परीक्षा लेने का कार्य 'यूनीवर्सिटी' को न करके 'बोर्ड ऑफ सेकन्डरी एण्ड इन्टरमीजियेट एज्यूकेशन' को करना चाहिए। 'सैडलर कमीशन' की इन सिफारिशों को अनेक प्रान्तों ने मानकर उसके अनुसार पृथक् बोर्डों का निर्माण कर 'यूनीवर्सिटियों' का बोझ हल्का कर दिया।

'यूनीवर्सिटियाँ' दो प्रकार की हैं। एक तो ऐसी जो एक ही जगह के विद्यार्थियों को पढ़ाने का प्रबन्ध करती हैं, इन्हें 'यूनीटरी' (Unitary) कहा जाता है, दूसरी वे जिनमें पढ़ाने का प्रबन्ध तो होता ही है परन्तु दूसरे कॉलेजों का भी उनके साथ सम्बन्ध होता है, इन्हें 'एफिलियेटिंग' (Affiliating) कहते हैं। अलीगढ़, इलाहाबाद, बनारस, ढाका, लखनऊ, दिल्ली, मैसूर, हैदराबाद, ट्रावनकोर के विश्व विद्यालय 'यूनीटरी' हैं, आगरा, आन्ध्र, बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, नागपुर, पटना, पंजाब, उत्कल तथा राजपूताना के विश्व विद्यालय 'एफिलियेटिंग' हैं।

भारत के स्वतन्त्र होने के बाद से भारतीय सरकार 'विश्व विद्यालयों' की समस्याओं को नवीन दृष्टि कोण से हल करने में लगी हुई है, और इसलिए १९४८ में सर राधाकृष्णन की अध्यक्षता में एक 'यूनीवर्सिटी कमीशन' बनाया गया। इसकी रिपोर्ट प्रकाशित हो चुकी है परन्तु इसके अनुसार अभी अधिक कार्य नहीं हो पाया।

४—प्रौढ़-शिक्षा (Adult Education)

छोटे बच्चों को शिक्षा देना प्रारम्भ करके उन्हें 'माध्यमिक' तथा 'उच्च शिक्षा' देने के अतिरिक्त कई देशों ने निरक्षरता को दूर करने के लिए प्रौढ़ व्यक्तियों को शिक्षा देने के प्रयोग भी शुरू किये हैं। १८वीं शताब्दी के अन्त में ब्रिटेन में, १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में अमरीका में 'प्रौढ़ शिक्षा' के प्रयत्न शुरू हुए। डेनमार्क तथा

स्विट्जरलैंड ने भी इन परीक्षणों को किया। रूस में तो यह परीक्षण बड़े उत्साह से किया गया। चीन, ईरान तथा टर्की ने भी प्रौढ़ व्यक्तियों को पढ़ना-लिखना सिखाने के सराहनीय प्रयत्न किये। भारत में जब चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथ में राज-सत्ता चली गई तब अनेक प्रान्तों ने 'प्रौढ़ शिक्षा' का आन्दोलन खड़ा किया। १९३७ में मोगा में 'प्रौढ़ शिक्षा-सम्मेलन' बुलाया गया जिसमें अमरीका के डा० लाबेक ने अपने फिलिपाइन के परीक्षण के आधार पर यहां भी आन्दोलन' खड़ा करने का प्रतिनिधियों को उत्साह दिया। इन आन्दोलनों के परिणाम-स्वरूप 'इंडियन एडल्ट एज्युकेशन एसोसियेशन' की स्थापना हुई जिसने १९३९ में 'इंडियन जनरल आफ एडल्ट एज्युकेशन'-नामक द्विमासिक पत्र दिल्ली से प्रकाशित करना आरम्भ किया। भिन्न भिन्न प्रान्तों में 'पढ़ो और पढ़ाओ' (Each one teach one) का आन्दोलन जोर शोर से जारी किया गया। इस आन्दोलन का फल यह हुआ कि पढ़े-लिखों की संख्या जो ८ प्रतिशत थी, बढ़कर १२ प्रतिशत हो गई। १९३८-३९ में सब प्रान्तों में मिलाकर ४४३३ 'प्रौढ़-स्कूल' खुल गये जिनमें १,४४,९८३ प्रौढ़ शिक्षा पा रहे थे। भारत जैसे देश में जहां निरक्षरों की संख्या बहुत अधिक है 'प्रौढ़-शिक्षा' के आन्दोलन से ही शीघ्र-से शीघ्र निरक्षरता को साक्षरता में परिणत किया जा सकता है। इस कार्य में जहां निःस्वार्थ सेवा करने वाली संस्थायें सरकार का हाथ बटा सकती हैं वहां 'विद्रुस विद्यालयों' के छात्र अपने-दीर्घावकाश में गांव-गांव में साक्षरता का प्रचार कर बहुत बड़ा काम कर सकते हैं। इस आन्दोलन से प्राप्त अनुभव के आधार पर अब 'प्रौढ़ शिक्षा' के आन्दोलन को 'सामाजिक शिक्षा' (Social Education) का रूप दिया जा रहा है क्योंकि प्रौढ़-व्यक्तियों का केवल अक्षर सिखा देना काफी नहीं है,

अक्षराभ्यास के साथ साथ उन्हें नागरिकता की अन्य बातें भी सिखाई जा सकती हैं, जिनसे प्रत्येक निरक्षर प्रौढ़ व्यक्ति अक्षर सीखने के साथ ही समाज का एक उत्तम अङ्ग भी बन सके।

५—स्त्री-शिक्षा (Women's Education)

लार्ड कर्जन ने १९०४ में 'भारतीय शिक्षा नीति' का प्रस्ताव स्वीकार किया जिसमें कहा गया कि भारत में स्त्री शिक्षा की प्रगति सन्तोष जनक नहीं। यह भी कहा गया कि सरकार कई आदर्श कन्या पाठशालाएं खोलेगी, कन्याओं की शिक्षा पर पहले से अधिक खर्च करेगी, अध्यापिकाएं ट्रेन करेगी, और स्त्री शिक्षा को बढ़ाने के लिए निरीक्षिकाओं की संख्या बढ़ा देगी। १९१३ में भारत सरकार ने शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ और प्रस्ताव स्वीकृत किये जिनमें फिर कहा गया कि स्त्री शिक्षा की गति बहुत धीमी है। यह भी कहा गया कि कन्याओं की पाठविधि बालकों से पृथक् उनकी आवश्यकता को देखकर बनाई जानी चाहिए, यह बालकों की पाठविधि का नकल ही नहीं होनी चाहिए, परीक्षा पर ही इतना अधिक बल देना चाहिये। १९२९ में 'हार्टोग कमेटी' ने लिखा कि यद्यपि इस बीच में स्त्री शिक्षा का काफी प्रचार हुआ है, तो भी लड़कों तथा लड़कियों में अभी तक प्रतिशत की दृष्टि से शिक्षा में बहुत अन्तर है। इस कमेटी ने यह भी सिफारिश की कि धीरे-धीरे स्त्री शिक्षा को 'अनिवार्य' बना देना ठीक होगा।

वैसे तो अत्यन्त प्राचीन काल में भारत में स्त्री-पुरुष की शिक्षा में कोई भेद न था, तो भी देर से यहां स्त्रियों की शिक्षा की तरफ बिल्कुल ध्यान नहीं दिया जा रहा था। सरकार की तरफ से जो थोड़ा बहुत प्रयत्न हो रहा था उसमें माता-पिता का सहयोग नहीं था। हां, महात्मा गांधी ने जब से भारत की राजनीति को अपने

हाथ में लिया तब से स्त्री-शिक्षा के प्रति जनता का दृष्टि-कोण बदल गया। महात्मा ने भारत की स्त्री-जाति को चुनौती दी, और देश की स्वतन्त्रता में हाथ बटाने को ललकारा। परिणाम यह हुआ कि स्त्रियाँ पर्दा फेंक कर मैदान में आ गईं, एक सिरे से दूसरे सिरे तक स्त्रियों में जागृति ही-जागृति दिखाई देने लगी। इस जागृति का स्त्री शिक्षा पर प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था। जहाँ १९२५ में ६०४ लड़कियों ने मैट्रिक पास किया, ५६ ग्रेजुएट बनीं, वहाँ १९३५ में ४०८२ ने मैट्रिक पास की, और ६८८ ग्रेजुएट बनीं। फिर भी पिछली जन-गणना के अनुसार २·६१ प्रतिशत स्त्रियाँ ही शिक्षित थीं। इसका पहला कारण तो यह है कि स्त्री-शिक्षा पर अभी उतना व्यय नहीं किया जा रहा है जितना करना चाहिए। १९४४ में शिक्षा पर हम जितना व्यय कर रहे थे उसमें कुल १६·४ प्रतिशत कन्याओं की शिक्षा पर व्यय हो रहा था। दूसरा कारण यह है कि लड़कों तथा लड़कियों की एक ही ढङ्ग की शिक्षा चल रही है। यह आवश्यक है कि लड़कियों को शिक्षा लड़कों की शिक्षा की नकल ही न हो, अपितु लड़कियों की विशेष आवश्यकता को देखते हुए उनके लिए नवीन पाठविधि का निर्माण किया जाय।

६—व्यावसायिक-शिक्षा (Professional Education)

१९०४ तक व्यावसायिक शिक्षा का प्रायः अभाव सा था। अंग्रेजों को अपना काम चलाने के लिए जो थोड़े-बहुत व्यक्ति चाहिए थे उन्हीं को व्यावसायिक-शिक्षा का प्रबन्ध था। लार्ड कर्ज़न द्वारा प्रस्तावित १९०४ की 'सरकार की शिक्षा-नीति' में यह कहा गया था कि शिक्षा में क्रियात्मक विषयों का समावेश करने की आवश्यकता है। परिणाम यह हुआ कि कानून, चिकित्सा, व्यापार, कृषि आदि व्यवसायों की शिक्षा देने के कालेज खुलने

लगा। प्रायः प्रत्येक विश्वविद्यालय में कानून की शिक्षा दी जाने लगी, वकीलों की संख्या बढ़ने लगी। कई कालेजों में दिन को कालेज की पाठावधि चलती थी, सायंकाल कानून की श्रेणियाँ लगती थीं, विद्यार्थी बी० ए० की पढ़ाई करते करते एल० एल० बी० की पढ़ाई भी कर लेते थे। चिकित्सा के भी नये नये कालेज खुले। स्त्रियों ने भी डाक्टरी पढ़नी शुरू की। उनके लिए दिल्ली में लेडी हार्डिञ्ज कालेज खोला गया। विश्वविद्यालयों ने व्यापार पढ़ाने के विभाग भी खोल दिये। माध्यमिक शिक्षा में व्यापार को भी एक वैकल्पिक विषय के रूप में रख दिया गया। पूना, कानपुर, शिवपुर, कलकत्ता, नागपुर तथा सैदापेट में कृषि की शिक्षा का प्रबन्ध १६ वीं शताब्दी में किया गया था। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पूसा (बिहार) में रिसर्च इन्स्टीट्यूट खोला गया जो बिहार के भूचाल के बाद दिल्ली में आ गया।

अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि 'व्यावसायिक-शिक्षा' (Professional Education) की अपेक्षा भी 'औद्योगिक शिक्षा' (Technical Education) की अधिक आवश्यकता है। देश की उन्नति कल-कारखानों से होनी है, उनके चलाने की योग्यता रखने वाले व्यक्तियों को उत्पन्न करने से ही काम चलेगा, अतः शिक्षा-शास्त्रियों का ध्यान अब 'औद्योगिक शिक्षा' (Technical or Industrial Education) की तरफ जाने लगा है।

७ — औद्योगिक शिक्षा (Technical Education)

अब तक हमारी शिक्षा बिल्कुल किताबी रही है, किताबों में भी समझने पढ़ने लिखने तक ही सीमित रही है। उद्योग की तरफ हमारा ध्यान बहुत कम गया है। सरकारी कामों के लिए जितने इञ्जीनियरों की आवश्यकता रही उतनों को ही शिक्षा दी जाती

रही। १८५६ १८५८ के बीच में रुड़की, पूना, मद्रास तथा कलकत्ता में चार इंजीनीयरिंग कालेज खुले। बहुत पीछे जाकर बनारस, लाहौर, कराची, पटना, बैंगलूर, हैदराबाद तथा त्रिवेंद्रम में एंजीनीयरिंग कालेज खोले गये। १९११ में बेंगलोर में जे० एन० टाटा के दान से 'इण्डियन इन्स्टीट्यूट आफ साइन्स' खुला। अनेक विश्व विद्यालयों में 'औद्योगिक रसायन शाला' (Industrial Chemistry) की शिक्षा दी जाने लगी। रंग, साबुन, तेल, भिन्न भिन्न खाद्य-पदार्थ तथा औषध निर्माण की शिक्षा के लिए भी अनेक विश्व विद्यालयों ने प्रबन्ध किये। कानपुर में 'हारकोर्ट बटलर टेक्नोलोजिकल इन्स्टीट्यूट' तथा 'इम्पीरियल इन्स्टीट्यूट ऑफ शुगर टैक्नोलोजी' खोले गये जिनमें तेल तथा शक्कर-पर अन्वेषण का प्रबन्ध किया गया।

'उद्योग' (Industry) के सम्बन्ध में हमें तीन प्रकार के व्यक्तियों की आवश्यकता है। (१) उद्योग को चलाने वाले प्रबन्धक, मैनेजर आदि (२) निरीक्षक—फोरमैन आदि तथा (३) चतुर कारीगर—लेबरर आदि। इस समय जो कालेज आदि खुले हुए हैं वे 'प्रबन्धकों' को तो पर्याप्त संख्या में उत्पन्न कर रहे हैं, ऐसे व्यक्तियों को उत्पन्न कर रहे हैं जिन्हें 'उद्योग' के सम्बन्ध में बहुत ऊंची शिक्षा मिल रही है, परन्तु इतनी ऊंची शिक्षा का लाभ तो तभी है जब उद्योगों को चलानेवाले 'निरीक्षक' तथा 'चतुर-कारीगर' भी हमारे पास हों। अतः बहुत ऊंची से कुछ नीची शिक्षा देनेवाली, फोरमैन आदि उत्पन्न करनेवाली संस्थाओं की आवश्यकता है। ऐसी संस्थाएं भी देश में कई उत्पन्न हो गई हैं। बम्बई का 'विक्टोरिया जुबिली टैक्निकल इन्स्टीट्यूट', बड़ौदे का 'कला भवन', कानपुर का 'गवर्नमेण्ट सेन्ट्रल टैक्सटाइल इन्स्टीट्यूट एण्ड लेदर वर्किंग स्कूल', बरेली का 'सेंट्रल वुड वर्किंग इन्स्टीट्यूट', बैंगलौर का

'टैक्सटाइल इन्स्टीट्यूट'—इस प्रकार की शिक्षा दे रहे हैं। १६३७ में 'एबट-वुड रिपोर्ट' में जिस प्रकार की संस्था खोलने का निर्देश किया गया है उन आदर्शों को लेकर दिल्ली में 'पोलीटैकनीक इन्स्टीट्यूट' खोला गया है जिसमें अनेक उद्योगों की एक-साथ शिक्षा दी जाती है। देश को सबसे अधिक आवश्यकता चतुर-श्रमियों की है। 'प्रबन्धक और निरीक्षक' भी बेकार रहेंगे, अगर उन्हें उद्योगों को चलाने वाले 'चतुर-कारीगर' नहीं मिलेंगे। 'एबट-वुड रिपोर्ट' का मत है कि प्रायः समझा जाता है कि कारीगर अशिक्षित ही होने चाहियें, परन्तु यह बात गलत है। अशिक्षित की अपेक्षा शिक्षित कारीगर अधिक अच्छा काम करता है। शिक्षित, चतुर कारीगरों को तय्यार करने के लिए 'जूनियर वोकेशनल स्कूल' तथा 'सीनियर वोकेशनल स्कूल' खोले जाने चाहियें। जो बालक मिडिल पास कर आयें, वे 'जूनियर वोकेशनल स्कूल' में, और जो हाई स्कूल पास कर आयें, वे 'सीनियर वोकेशनल स्कूल' में भर्ती किये जायें। ये स्कूल उद्योग के केन्द्रों में स्थापित होने चाहियें। इन स्कूलों का काम 'निरीक्षक' (फ़ोरमैन आदि) तथा चतुर श्रमी, कुशल कारीगर तय्यार करना होना चाहिये।

अब तक हमारा किताबी शिक्षा की तरफ़ जितना ध्यान रहा है उतना ही अब औद्योगिक-शिक्षा की तरफ़ ध्यान देने की आवश्यकता है। यह आवश्यक नहीं कि औद्योगिक शिक्षा बड़े पैमाने पर उद्योग चलाने की ही शिक्षा दे, अगर भारतवर्ष की परिस्थिति को देख कर महात्मा गान्धी के दृष्टि-कोण से छोटे पैमाने पर ही औद्योगिक-शिक्षा देने की आवश्यकता हो तो वही दे, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि शिक्षा शास्त्रियों का पक्ष अब किताबी शिक्षा से हट कर क्रियात्मक शिक्षा की तरफ़ जा रहा है।